

## Chapter उन्तीस

### भगवान् कपिल द्वारा भक्ति की व्याख्या

देवहृतिरुवाच

लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च ।

स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत्पारमार्थिकम् ॥ १ ॥

यथा साङ्ख्येषु कथितं यन्मूलं तत्प्रचक्षते ।

भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरशः प्रभो ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

देवहृतिः उवाच—देवहृति ने कहा; लक्षणम्—लक्षण; महत्-आदीनाम्—महत्-तत्त्व आदि का; प्रकृतेः—प्रकृति का; पुरुषस्य—आत्मा का; च—तथा; स्वरूपम्—स्वभाव; लक्ष्यते—वर्णन किया जाता है; अमीषाम्—उनका; येन—जिससे; तत्-पारम-अर्थिकम्—उनकी असली प्रकृति; यथा—जिस प्रकार; साङ्ख्येषु—सांख्य दर्शन में; कथितम्—व्याख्यायित; यत्—जिसका; मूलम्—चरम परिणति; तत्—वह; प्रचक्षते—कहते हैं; भक्ति-योगस्य—भक्ति का; मे—मुझको; मार्गम्—पथ; ब्रूहि—कहिये; विस्तरशः—विस्तार से; प्रभो—हे भगवान् कपिल ।

देवहृति ने जिज्ञासा की : हे प्रभु, आप सांख्य दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण प्रकृति तथा आत्मा के लक्षणों का अत्यन्त वैज्ञानिक रीति से पहले ही वर्णन कर चुके हैं। अब मैं आपसे प्रार्थना करूँगी कि आप भक्ति के मार्ग की व्याख्या करें, जो समस्त दार्शनिक प्रणालियों की चरम परिणति है।

तात्पर्य : इसी उन्तीसवें अध्याय में भक्ति की महिमा की विस्तृत व्याख्या की गई है। साथ ही बद्धजीव पर काल के प्रभाव का भी वर्णन हुआ है। काल के प्रभाव का विस्तार से वर्णन करने का उद्देश्य बद्धजीव को उसके भौतिक कार्यकलापों से विरत करना है, जिन्हें केवल समय का अपव्यय माना जाता है। पिछले अध्याय में प्रकृति, आत्मा तथा परमेश्वर या परमात्मा का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा चुका है और इस अध्याय में भक्तियोग अथवा भक्ति के सिद्धान्तों—भगवान् तथा जीव के बीच नित्य सम्बन्ध होने के कारण कार्यो के निष्पादन—की व्याख्या की गई है।

भक्तियोग अथवा भक्ति समस्त दर्शन-पद्धतियों का मूल सिद्धान्त है। जिस किसी दर्शन का लक्ष्य भगवद्भक्ति नहीं है, वह मात्र कपोल कल्पना है। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि बिना दार्शनिक आधार के भक्तियोग न्यूनाधिक भावावेश है। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं। कुछ लोग

स्वयं को बौद्धिक रूप से उन्नत मानते हैं और केवल चिन्तन तथा ध्यान करते हैं और दूसरे लोग वे हैं जिनके कथन का कोई दार्शनिक आधार नहीं होता। इनमें से किसी को भी जीवन का उच्चतम लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता और यदि हो भी तो अनेकानेक वर्ष लग जाते हैं। इसलिए वैदिक साहित्य का सुझाव है कि परमेश्वर, जीव तथा इन दोनों का शाश्वत सम्बन्ध—ये तीन तत्त्व हैं और जीवन का उद्देश्य भक्ति के सिद्धान्तों का पालन करते हुए अन्ततः पूर्णतया भगवद्भक्ति तथा भगवद्प्रेम के साथ परमेश्वर के धाम को प्राप्त करना है।

सांख्य दर्शन सारे जगत का विश्लेषणात्मक अध्ययन है। मनुष्य को हर वस्तु की प्रकृति तथा उसके गुणों का परीक्षण करके समझना होता है। यह ज्ञानार्जन कहलाता है। किन्तु मनुष्य को जीवन का लक्ष्य या ज्ञानार्जन के मूल सिद्धान्त—भक्तियोग—को प्राप्त किये बिना मात्र ज्ञानार्जन ही नहीं करते रहना चाहिए। यदि हम भक्तियोग का परित्याग करके वस्तुओं की प्रकृति के विषय में विश्लेषणात्मक अध्ययन करते रहते हैं, तो इसका परिणाम कुछ भी नहीं निकलेगा। भागवत में कहा गया है कि ऐसा कार्य धान कूटने के समान है। यदि धान में से चावल (अन्न) निकाल लिया जाय तो भुस कूटने से क्या लाभ? प्रकृति, जीव तथा परमात्मा के वैज्ञानिक अध्ययन से भगवद्भक्ति का मूल सिद्धान्त समझा जा सकता है।

विरागो येन पुरुषो भगवन्सर्वतो भवेत् ।

आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः ॥ ३ ॥

#### शब्दार्थ

विरागः—विरक्त; येन—जिससे; पुरुषः—व्यक्ति; भगवन्—हे प्रभु; सर्वतः—पूर्णतः; भवेत्—हो सके; आचक्ष्व—कृपया वर्णन करें; जीव-लोकस्य—जनसामान्य के लिए; विविधाः—अनेक; मम—मेरा; संसृतीः—जन्म-मरण का चक्र।

देवहूति ने आगे कहा : हे प्रभु, कृपया मेरे तथा जन-साधारण दोनों के लिए जन्म-मरण की निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन करें, जिससे ऐसी विपदाओं को सुनकर हम इस भौतिक जगत के कार्यों से विरक्त हो सकें।

तात्पर्य : इस श्लोक में संसृतीः शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। श्रेयः-सृति का अर्थ है भगवान् की ओर अग्रसर होने का प्रशस्त मार्ग और संसृति का अर्थ है जन्म-मरण के पथ पर

संसार के गहनतम भाग की ओर निरन्तर यात्रा। जिन लोगों को इस जगत, ईश्वर तथा उनके वास्तविक घनिष्ठ सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है, वे सभ्यता की भौतिक प्रगति के नाम पर संसार के अंधकारमय क्षेत्र की ओर बढ़ रहे हैं। संसार के अंधकारमय क्षेत्र में प्रविष्ट होने का अर्थ है मनुष्य-योनि के अतिरिक्त अन्य योनियों में प्रवेश करना। अज्ञानी पुरुष यह नहीं जानते कि इस जीवन के पश्चात् वे प्रकृति की मुट्टी में होंगे और उन्हें ऐसा जीवन दिया जा सकता है, जो रुचिकर न हो। जीव को किस तरह विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं इसका वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा। जन्म तथा मृत्यु में शरीरों का निरन्तर परिवर्तन *संसार* कहलाता है। देवहूति अपने यशस्वी पुत्र कपिल मुनि से प्रार्थना करती हैं कि वे इस निरन्तर यात्रा की व्याख्या करें जिससे बद्धजीवों को पता चले कि वे भक्तियोग के मार्ग को न समझने के कारण पतन के मार्ग की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

कालस्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते ।

स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद्धेतोः कुशलं जनाः ॥ ४ ॥

#### शब्दार्थ

कालस्य—काल का; ईश्वर-रूपस्य—भगवान् का प्रतिनिधि; परेषाम्—अन्य सबों का; च—तथा; परस्य—मुख्य; ते—तुम्हारा; स्वरूपम्—प्रकृति; बत—ओह; कुर्वन्ति—करते हैं; यत्-हेतोः—जिसके प्रभाव से; कुशलम्—पुण्य कर्म; जनाः—सामान्य जन।

कृपया काल का भी वर्णन करें जो आपके स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है और जिसके प्रभाव से सामान्य जन पुण्यकर्म करने में प्रवृत्त होते हैं।

तात्पर्य : सौभाग्य के पथ तथा अज्ञान के गहन क्षेत्र के मार्ग के विषय में कोई कितना ही अज्ञानी क्यों न रहे, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति शाश्वत काल के प्रभाव से परिचित है, जो हमारे समस्त कर्मों के फल को निगल जाने वाला है। ज्योंही शरीर जन्म लेता है उस पर काल का प्रभाव चालू हो जाता है। शरीर के जन्म की तिथि से ही मृत्यु का प्रभाव कार्य करने लगता है; आयु बढ़ने के साथ ही शरीर पर काल का प्रभाव बढ़ता जाता है। यदि मनुष्य तीस या पचास वर्ष का है, तो काल उसकी जीवन अवधि का तीस या पचास वर्ष निगल चुका होता है।

प्रत्येक व्यक्ति जीवन की उस अन्तिम अवस्था से अवगत है जब उसे मृत्यु के क्रूर हाथों में

जाना होगा, किन्तु कुछ लोग अपनी आयु तथा परिस्थितियों पर विचार करके काल के प्रभाव से चिन्तित होकर स्वयं को पुण्यकर्मों में प्रवृत्त करते हैं, जिससे भविष्य में उन्हें किसी निम्न परिवार या पशुयोनि में न जाना पड़े। सामान्यतया लोग इन्द्रिय सुख के प्रति आसक्त रहते हैं, अतः वे स्वर्गलोक जाना चाहते हैं। फलतः वे किसी परोपकार या अन्य पुण्य कार्य में लग जाते हैं, किन्तु जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है जन्म तथा मृत्यु के चक्र से किसी को छुटकारा नहीं मिल पाता भले ही कोई सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक क्यों न चला जाय, क्योंकि काल का प्रभाव इस भौतिक जगत में सर्वत्र उपस्थित है। हाँ, आध्यात्मिक जगत में काल का कोई प्रभाव नहीं होता।

लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुष-

श्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये ।

श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया

त्वमाविरासीः किल योगभास्करः ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

लोकस्य—जीवों का; मिथ्या-अभिमते:—अहंकार से मोहग्रस्त; अचक्षुषः—अंधा; चिरम्—दीर्घकाल तक;  
प्रसुप्तस्य—सोते हुए का; तमसि—अंधकार में; अनाश्रये—आश्रयविहीन; श्रान्तस्य—थके हुए के; कर्मसु—कर्मों के प्रति; अनुविद्धया—संलग्न, अनुरक्त; धिया—बुद्धि से; त्वम्—तुम; आविरासीः—प्रकट हुए हो; किल—निस्सन्देह;  
योग—योग प्रणाली का; भास्करः—सूर्य।

हे भगवान्, आप सूर्य के समान हैं, क्योंकि आप जीवों के बद्धजीवन के अन्धकार को प्रकाशित करने वाले हैं। उनके ज्ञान-चक्षु बन्द होने से वे आपके आश्रय के बिना उस अन्धकार में लगातार सुप्त पड़े हुए हैं, फलतः वे अपने कर्मों के कार्य-कारण प्रभाव से झूठे ही व्यस्त रहते हैं और अत्यन्त थके हुए प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् कपिलदेव की महिमामयी माता श्रीमती देवहूति उन सामान्य जनों की दयनीय स्थिति के प्रति अत्यन्त कृपालु हैं, जो जीवन का लक्ष्य न जानते हुए मोह के गहन अन्धकार में सुप्त पड़े हुए हैं। एक वैष्णव या भगवद्भक्त की यह सामान्य भावना होती है कि वह उन्हें जगाए। इसी प्रकार देवहूति अपने यशस्वी पुत्र से बद्धजीवों के जीवन को प्रकाशित करने की प्रार्थना कर रही हैं जिससे उन सबकी अत्यन्त दयनीय जीवन-

दशा का अन्त हो। भगवान् को योगभास्कर अर्थात् समस्त योग पद्धतियों को सूर्यकहा गया है। देवहूति अपने यशस्वी पुत्र से भक्तियोग का वर्णन करने का पहले ही अनुरोध कर चुकी थीं और भगवान् ने भक्तियोग का चरम योग पद्धति के रूप में वर्णन किया है।

भक्तियोग उन बद्धजीवों के उद्धार के लिए सूर्य के प्रकाश तुल्य है, जिनकी सामान्य दशा का यहाँ वर्णन हुआ है। उनके पास अपना हित देख पाने के लिए आँखें नहीं हैं। वे यह नहीं जानते कि जीवन का लक्ष्य भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि करना नहीं है, क्योंकि शरीर कुछ वर्षों से अधिक नहीं रह सकता। जीव तो शाश्वत हैं और उनकी आवश्यकताएँ शाश्वत हैं। यदि मनुष्य केवल शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करने में लगा रहे और जीवन की शाश्वत आवश्यकताओं की अनदेखी करता चले तो वह उस सभ्यता का अंश होगा जिसकी प्रगति जीवों को अज्ञान के अन्धकारमय क्षेत्र में डाल देती है। उस अन्धकारमय क्षेत्र में रहते हुए उसका किसी प्रकार की नवचेतना नहीं पाता, अपितु वह धीरे-धीरे थकता जाता है। वह इस थकान को दूर करने के लिए अनेक साधन खोजता है, किन्तु असफल होता है और निराश रहा आता है। जीवन-संघर्ष में इस थकान को मिटाने का एकमात्र उपाय भक्तिमार्ग अथवा कृष्णभावनामृत का मार्ग है।

मैत्रेय उवाच

इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्य महामुनिः ।

आबभाषे कुरुश्रेष्ठ प्रीतस्तां करुणार्दितः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; मातुः—उनकी माता के; वचः—शब्द; श्लक्ष्णम्—भद्र; प्रतिनन्द्य—स्वागत करते हुए; महा-मुनिः—ऋषि कपिल; आबभाषे—बोले; कुरु-श्रेष्ठ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ, विदुर; प्रीतः—प्रसन्न; ताम्—उससे; करुणा—दया से; अर्दितः—द्रवीभूत।

श्री मैत्रेय ने कहा : हे कुरुश्रेष्ठ, अपनी महिमामयी माता के शब्दों से प्रसन्न होकर तथा अत्यधिक अनुकम्पा से द्रवित होकर महामुनि कपिल इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भगवान् कपिल अपनी माता की प्रार्थना से अत्यधिक प्रसन्न हुए, क्योंकि वे अपने व्यक्तिगत मोक्ष के प्रति उतनी चिन्तित न थीं जितनी कि पतित बद्धजीवों के प्रति चिन्तित

थीं। भगवान् इस जगत की पतितात्माओं पर सदैव कृपालु रहते हैं, अतः उनका उद्धार करने के लिए वे या तो स्वयं अवतरित होते हैं या अपने विश्वासपात्र दासों को भेजते हैं। चूँकि वे निरन्तर उनके प्रति सदय रहते हैं, अतः यदि उनका कोई भक्त भी उन सबों के प्रति दयालु हो उठता है, तो वे भक्तों से अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि जो लोग पतितात्माओं को *भगवद्गीता* के इस निष्कर्ष का कि भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण करो, उपदेश देकर उन्हें उठाने का प्रयत्न करते हैं, वे भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। अतः जब भगवान् ने देखा कि उनकी माता पतित जीवों के प्रति अत्यन्त सदय हैं, तो वे प्रसन्न हुए और वे उन पर अत्यन्त कृपालु हो गये।

श्रीभगवानुवाच

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते ।

स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने उत्तर दिया; भक्ति-योगः—भक्ति; बहु-विधः—अनेक प्रकार के; मार्गैः—मार्गों से; भामिनि—हे उत्तम स्त्री; भाव्यते—प्रकट है; स्वभाव—प्रकृति; गुण—गुण; मार्गेण—व्यवहार के अनुसार; पुंसाम्—साधकों के; भावः—प्राकट्य; विभिद्यते—विभाजित है।

भगवान् कपिल ने उत्तर दिया : हे भामिनि, साधक के विभिन्न गुणों के अनुसार भक्ति के अनेक मार्ग हैं।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित होकर शुद्ध भक्ति केवल एक है, क्योंकि शुद्धभक्ति में भक्त भगवान् से किसी भी माँग को पूरा करने के लिए नहीं कहता। किन्तु सामान्य रूप से लोग इस प्रयोजन से भक्ति करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जो लोग शुद्ध नहीं हैं, वे चार प्रकार के प्रयोजनों से भक्ति करते हैं। कोई व्यक्ति भौतिक परिस्थितियों से पीड़ित होकर भगवान् का भक्त बनता है और अपना कष्ट दूर करने के लिए भगवान् के पास जाता है। जिस व्यक्ति को धन की कमी होती है वे भगवान् के पास पहुँचकर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए याचना करता है। अन्य लोग, जिन्हें कोई कष्ट नहीं है अथवा आर्थिक सहायता की आवश्यकता नहीं होती, वे परम सत्य को जानने के लिए ज्ञान की खोज में रहते हैं। वे भी

भक्ति स्वीकार करके भगवान् के स्वभाव के विषय में जिज्ञासा करते हैं। *भगवद्गीता* (७.१६) में इसका सुन्दर वर्णन मिलता है। वस्तुतः भक्तिमार्ग अद्वितीय है, किन्तु भक्तों की परिस्थिति के अनुसार भक्ति अनेक प्रकार की प्रतीत होने लगती है, जिसको अगले श्लोक में उत्तम ढंग से समझाया गया है।

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा ।

संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥ ८ ॥

#### शब्दार्थ

अभिसन्धाय—दृष्टि में रखकर; यः—जो; हिंसाम्—हिंसा को; दम्भम्—गर्व को; मात्सर्यम्—ईर्ष्या को; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; संरम्भी—क्रोधी; भिन्न—पृथक्; दृक्—जिसकी दृष्टि; भावम्—भक्ति; मयि—मुझमें; कुर्यात्—करे; सः—वह; तामसः—तमोगुणी।

ईर्ष्यालु, अहंकारी, हिंस्र तथा क्रोधी और पृथक्तावादी व्यक्ति द्वारा की गई भक्ति तमोगुण प्रधान मानी जाती है।

**तात्पर्य :** *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में पहले ही कहा जा चुका है कि सर्वोच्च, सर्वाधिक यशस्वी धर्म है अहैतुकी भक्ति की प्राप्ति। शुद्ध भक्ति का एकमात्र ध्येय भगवान् को प्रसन्न करना होना चाहिए। वस्तुतः यह ध्येय नहीं है, यह जीव की शुद्ध अवस्था है। बद्ध अवस्था में रहकर जब कोई भक्ति में प्रवृत्त होता है, तो उसे पूर्णतया समर्पित भाव से प्रामाणिक गुरु का आदेश मानना चाहिए। गुरु परमेश्वर का प्रकट प्रतिनिधि होता है, क्योंकि वह ईश्वर से आदेश प्राप्त करता है और उन्हें यथारूप प्रस्तुत करता है, क्योंकि वे शिष्य-परम्परा से चले आते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि उसमें निहित उपदेशों को शिष्य-परम्परा से प्राप्त किया जाय अन्यथा उसमें मिलावट रहती है। श्रीभगवान् को प्रसन्न रखने के ध्येय से प्रामाणिक गुरु के निर्देशन के अनुसार कर्म करना ही शुद्ध भक्ति है। किन्तु यदि उसका ध्येय व्यक्तिगत इन्द्रियतृप्ति हो तो उसकी भक्ति भिन्न प्रकार से प्रकट होती है। ऐसा व्यक्ति हिंसक, दम्भी, ईर्ष्यालु तथा क्रोधी हो सकता है और उसके स्वार्थ भगवान् से पृथक् होते हैं।

जो व्यक्ति भगवान् के पास भक्तिमय सेवा करने के उद्देश्य से जाता है, किन्तु अपने व्यक्तित्व के प्रति गर्वित रहता है, अन्यो से ईर्ष्यालु रहता है या प्रतिशोध लेता है, वह क्रोधी

होता है। वह अपने को सर्वश्रेष्ठ भक्त समझता है। इस प्रकार की गई भक्ति शुद्धि नहीं होती; यह मिश्रित है और निम्नतम कोटि की अर्थात् *तामसः* है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती का उपदेश है कि जस वैष्णव का चरित्र अच्छान हो उससे दूर रहना चाहिए। वैष्णव वह है, जो भगवान् को जीवन का परम लक्ष्य मानता है, किन्तु यदि कोई शुद्ध नहीं है और *कामनाएँ* रखता है, तो वह उत्तम चरित्र वाला प्रथम कोटि का वैष्णव नहीं है। ऐसे वैष्णव का आदर किया जा सकता है, क्योंकि उसने भगवान् को जीवन का परम लक्ष्य मान लिया है। किन्तु जो वैष्णव तमोगुणी (तामसी) हो उसकी संगति नहीं करनी चाहिए।

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।

अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥ ९ ॥

#### शब्दार्थ

विषयान्—विषय, भोग को; अभिसन्धाय—लक्ष्य करके; यशः—ख्याति; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; अर्चा-आदौ—विग्रह-पूजन आदि में; अर्चयेत्—पूजा करे; यः—जो; माम्—मुझको; पृथक्-भावः—भेदभाव रखने वाला, पृथक्तावादी; सः—वह; राजसः—रजोगुण में।

मन्दिर में एक पृथक्तावादी द्वारा भौतिक भोग, यश तथा ऐश्वर्य के प्रयोजन से की जानेवाली विग्रह-पूजा रजोगुणी भक्ति है।

तात्पर्य : 'पृथक्तावादी' शब्द को सही ढंग से समझना होगा। संस्कृत में इसके लिए *भिन्न-दृक्* तथा *पृथक्-भावः* शब्द मिलते हैं। पृथक्तावादी वह है, जो परमेश्वर के हित से अपने हित (स्वार्थ) को पृथक् देखता है। मिश्रित भक्त अथवा रजोगुणी तथा तमोगुणी भक्त सोचते हैं कि भगवान् का स्वार्थ भक्तों के आदेशों की पूर्ति करने में है। ऐसे भक्तों का स्वार्थ इसमें रहता है कि अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए भगवान् से अधिक से अधिक भगवान् से प्राप्त कर लिया जाय। यही पृथक्तावादी मानसिकता है। वस्तुतः पिछले अध्याय में शुद्ध भक्ति की व्याख्या हुई है—इसमें भगवान् का मन तथा भक्त के मन को एक दूसरे के अनुसार होना चाहिए। भक्त को केवल भगवान् की इच्छाओं को पूरा करने के सिवाय और कुछ कामना नहीं करनी चाहिए। यही एकात्मता है। जब भक्त का स्वार्थ परमेश्वर के स्वार्थ से भिन्न होता है, तो उसकी मानसिकता पृथक्तावादी जैसी होती है। जब भक्त भगवान् की परवाह किये बिना



भौतिक सुख भोगना चाहता है अथवा भगवान् की कृपा का उपयोग करके प्रसिद्ध या ऐश्वर्यवान बनना चाहता है, तो वह रजोगुणी है।

किन्तु मायावादी इस 'पृथकतावादी' शब्द की विवेचना भिन्न रूप से करते हैं। उनका कहना है कि भगवान् की पूजा करते समय मनुष्य को अपने आपको परमेश्वर से एक हुआ सोचना चाहिए। प्रकृति के गुणों के अन्तर्गत भक्ति का यह अन्य मिश्रित (भ्रष्ट) रूप है। यह विचार कि जीव परमात्मा से एकाकार है तमोगुण है। वस्तुतः एकत्व या तादात्म्य रुचि (स्वार्थ) के एकत्व पर आधारित है। शुद्ध भक्त का एकमात्र स्वार्थ है परमेश्वर के लिए कर्म करना। जब व्यक्ति का रंचमात्र भी व्यक्तिगत स्वार्थ निहित होता है, तो उसकी भक्ति त्रिगुण से मिश्रित होती है।

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम् ।

यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥ १० ॥

#### शब्दार्थ

कर्म—सकाम कर्म; निर्हारम्—अपने आपको मुक्त करने के; उद्दिश्य—उद्देश्य से; परस्मिन्—भगवान् को; वा—अथवा; तत्—अर्पणम्—कर्मफल का अर्पण; यजेत्—पूजा करे; यष्टव्यम्—पूजे जाने के लिए; इति—इस प्रकार; वा—अथवा; पृथक्-भावः—पृथकतावादी; सः—वह; सात्त्विकः—सतोगुण में स्थित।

जब भक्त भगवान् की पूजा करता है और अपने कर्मों की त्रुटि से मुक्त होने के लिए अपने कर्मफलों को अर्पित करता है, तो उसकी भक्ति सात्त्विक होती है।

तात्पर्य : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी ये चार आश्रम—इन आठों विभागों के अपने-अपने कर्म हैं, जिन्हें भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न करना होता है। जब ऐसे कार्यों को सम्पन्न करके इनके फलों को परमेश्वर को अर्पित कर दिया जाता है, तो वे कर्मार्पणम् कहलाते हैं। यदि कोई त्रुटि रह जाती है, तो इस अर्पण से वह पूरी हो जाती है। किन्तु यदि यह अर्पण शुद्ध भक्ति में न होकर सतोगुण में हो तो स्वार्थ भिन्न हो जाता है। चारों आश्रम तथा चारों वर्ण अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के अनुसार किसी न किसी लाभ के लिए कर्म करते हैं। अतः ऐसे कर्म सतोगुण में होते हैं, इनकी गणना शुद्ध भक्ति की श्रेणी में नहीं की जा सकती। जैसाकि रूप गोस्वामी ने कहा

है : शुद्ध भक्ति समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित होती है। *अन्याभिलाषिता शून्यम्*। व्यक्तिगत या भौतिक स्वार्थ के लिए यह बहाना नहीं हो सकता। भक्ति सम्बन्धी कर्मों को सकाम कर्मों तथा यादृच्छिक (अनुभववादी) दार्शनिक चिन्तन से परे होना चाहिए। शुद्ध भक्ति समस्त भौतिक गुणों से परे होती है।

तमो, रजो तथा सतोगुण के अधीन भक्ति को ८१ श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। भक्ति सम्बन्धी कार्यों को नौ प्रकारों में विभाजित किया जाता है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, अर्चन, सेवा तथा समर्पण और इनको पुनः तीन-तीन गुणात्मक श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। इस प्रकार श्रवण के तमो, रजो तथा सतोगुण के अधीन विभाग हो सकते हैं। इसी प्रकार गुणों के भी तीन विभाग हैं। तीन गुणित नौ बराबर सत्ताईस और जब फिर इसे तीन से गुणा करते हैं, तो इक्यासी आता है। मनुष्य को शुद्ध भक्ति के स्तर तक पहुँचने के लिए ऐसी समस्त मिश्रित भक्ति को पार कर जाना होता है जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥ ११ ॥

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहतम् ।

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ १२ ॥

#### शब्दार्थ

मत्—मेरा; गुण—गुण; श्रुति—सुनकर; मात्रेण—केवल; मयि—मेरे प्रति; सर्व—गुहा-आशये—प्रत्येक के हृदय में रहते हुए; मनः-गतिः—हृदय का मार्ग; अविच्छिन्ना—समुद्र की ओर; यथा—जिस तरह; गङ्गा—गंगा के; अम्भसः—जल का; अम्बुधौ—समुद्र की ओर; लक्षणम्—प्राकट्य; भक्ति-योगस्य—भक्ति का; निर्गुणस्य—अमिश्रित; हि—निस्सन्देह; उदाहतम्—प्रकट; अहैतुकी—बिना कारण के; अव्यवहिता—अभिन्न; या—जो; भक्तिः—भक्ति; पुरुष-उत्तमे—भगवान् के प्रति।

जब मनुष्य का मन प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के भीतर वास करने वाले भगवान् के दिव्य नाम तथा गुणों के श्रवण की ओर तुरन्त आकृष्ट हो जाता है, तो निर्गुण भक्ति का प्राकट्य होता है। जिस प्रकार गंगा का पानी स्वभावतः समुद्र की ओर बहता है, उसी प्रकार ऐसा भक्तिमय आह्लाद बिना रोक-टोक के परमेश्वर की ओर प्रवाहित होता है।

तात्पर्य : इस निर्गुण शुद्ध भक्ति का मूल सिद्धान्त ईश्वर का प्रेम है। *मद्गुणश्रुतिमात्रेण* का

अर्थ है “भगवान् के दिव्य गुणों के श्रवण मात्र से।” ये गुण *निर्गुण* कहलाते हैं। परमेश्वर प्रकृति के गुणों से अकलुषित हैं, अतः शुद्ध भक्त के लिए आकर्षक हैं। ऐसा आकर्षण प्राप्त करने के लिए ध्यान के अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। शुद्ध भक्त पहले से ही दिव्य अवस्था को प्राप्त रहता है और उसके तथा परमेश्वर के बीच का आकर्षण (सहज) होता है, जिसकी तुलना समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली गंगा नदी से की जा सकती है। गंगाजल के प्रवाह को किसी तरह रोका नहीं जा सकता, इसी प्रकार भगवान् के दिव्य नाम, रूप तथा लीलाओं के प्रति शुद्ध भक्त के आकर्षण को किसी भौतिक परिस्थिति के द्वारा रोका नहीं जा सकता। इस प्रसंग में *अविच्छिन्न* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है “बिना रुकावट के।” शुद्ध भक्त के भक्ति-प्रवाह को कोई भौतिक परिस्थिति रोक नहीं सकती।

*अहैतुकी* शब्द का अर्थ “बिना कारण” है। एक शुद्ध भक्त भगवान् की प्रेममयी सेवा किसी कारणवश या भौतिक अथवा आध्यात्मिक लाभ के वशीभूत होकर नहीं करता। विशुद्ध भक्ति का यह पहला लक्षण है। *अन्याभिलाषिता शून्यम्*। भक्ति द्वारा उसे किसी इच्छा की पूर्ति नहीं करनी होती। ऐसी भक्ति पुरुषोत्तम के अतिरिक्त अन्य किसी के निमित्त नहीं होती। कभी-कभी छद्म-भक्त अनेक देवताओं के प्रति यह सोचकर भक्ति प्रदर्शित करते हैं कि देवताओं के ये रूप भगवान् के समरूप हैं। किन्तु यहाँ इसका विशेष रूप से उल्लेख है कि भक्ति केवल भगवान् नारायण, विष्णु या कृष्ण के निमित्त होती है, अन्य किसी के लिए नहीं।

*अव्यवहिता* का अर्थ है “बिना विश्राम के।” शुद्ध भक्त को बिना विश्राम के चौबीसों घंटे भगवान् की सेवा में लगे रहना चाहिए; उसका जीवन ऐसा ढल जाता है कि उसका प्रत्येक क्षण भगवान् की किसी न किसी प्रकार की भक्ति में बीतता है। *अव्यवहिता* का दूसरा अर्थ यह है कि भक्त तथा भगवान् के स्वार्थ एक ही स्तर पर होते हैं। भक्त का स्वार्थ परमेश्वर की इच्छापूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भगवान् के प्रति ऐसी ऐच्छिक सेवा दिव्य होती है और प्रकृति के गुणों द्वारा कभी कलुषित नहीं होती। ये शुद्ध भक्ति के लक्षण हैं और शुद्ध भक्ति प्रकृति के सारे कल्मषों से मुक्त होती है।

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ १३ ॥

### शब्दार्थ

सालोक्य—समान लोक में निवास; सार्ष्टि—समान ऐश्वर्य वाला; सामीप्य—व्यक्तिगत पार्षद होना; सारूप्य—समान शारीरिक रूप वाला; एकत्वम्—तादात्म्य; अपि—भी; उत—यहाँ तक कि; दीयमानम्—प्रदान किये जाने पर; न—नहीं; गृह्णन्ति—स्वीकार करते हैं; विना—रहित; मत्—मेरी; सेवनम्—भक्ति; जनाः—शुद्ध भक्त ।

शुद्ध भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य या एकत्व में से किसी प्रकार का मोक्ष स्वीकार नहीं करते, भले ही ये भगवान् द्वारा क्यों न दिये जा रहे हों।

तात्पर्य : भगवान् चैतन्य हमें शिक्षा देते हैं कि किस प्रकार भगवान् के प्रति स्वतःस्फूर्त प्रेम के साथ भक्ति करनी चाहिए। शिक्षाष्टक में वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं, “हे प्रभु! मैं आपसे न तो कोई सम्पत्ति चाहता हूँ, न ही मैं सुन्दर पत्नी चाहता हूँ और न अनेक अनुयायी चाहता हूँ। मैं आपसे इतना ही चाहता हूँ कि जन्म-जन्मान्तर आपके चरणकमलों का शुद्ध भक्त बना ही रहूँ।” भगवान् चैतन्य की स्तुतियों एवं श्रीमद्भागवत के कथनों में साम्य है। चैतन्य महाप्रभु प्रार्थना करते हैं “जन्म-जन्मान्तर” जो इस बात का सूचक है कि शुद्ध भक्त जन्म तथा मृत्यु की समाप्ति भी नहीं चाहता। योगी तथा यादृच्छिक दार्शनिक जन्म तथा मृत्यु की प्रक्रिया का अन्त चाहते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त तो इस भौतिक जगत में रहकर भक्ति करना चाहता है।

यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि शुद्ध भक्त एकत्व अर्थात् भगवान् से तदाकार नहीं चाहता जैसाकि निर्विशेषवादी, मनःचिन्तक तथा ध्यानकर्ता कामना करते रहते हैं। परमेश्वर के साथ एक होना शुद्ध भक्त को स्वप्न में भी नहीं सूझता। कभी-कभी वह भगवान् की सेवा करने के उद्देश्य से वैकुण्ठलोक जाना स्वीकार कर लेता है, किन्तु वह ब्रह्मतेज में लीन होने का मन में विचार तक नहीं लाता, क्योंकि इसे वह नरक से भी निकृष्ट मानता है। ऐसे एकत्व अर्थात् ब्रह्मतेज में लीन होने को कैवल्य कहते हैं, किन्तु कैवल्य से प्राप्त सुख शुद्ध भक्त के लिए नारकीय है। भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए इतना इच्छुक रहता है कि उसके लिए पाँचों प्रकार के मोक्ष कोई महत्त्व नहीं रखते। यदि कोई भगवान् की शुद्ध प्रेमा-भक्ति में संलग्न है, तो यह माना जाता है कि उसने पाँचों प्रकार के मोक्ष पहले ही प्राप्त कर लिए हैं।

जब भक्त वैकुण्ठलोक जाता है, तो उसे चार प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। इनमें से एक है *सालोक्य* अर्थात् भगवान् के ही लोक में वास करना। भगवान् अपने विभिन्न पूर्ण-अंशों में असंख्य वैकुण्ठलोकों में निवास करते हैं जिनमें कृष्णलोक प्रमुख है। जिस प्रकार भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर सूर्यलोक मुख्य लोक है उसी तरह वैकुण्ठलोकों में कृष्णलोक प्रमुख है। कृष्णलोक से भगवान् कृष्ण का शारीरिक तेज दिव्यलोक तथा भौतिक जगत में फैलता है, किन्तु भौतिक जगत में यह पदार्थ से ढका रहता है। दिव्यलोक में असंख्य वैकुण्ठलोक हैं और इनमें से प्रत्येक के अधिष्ठाता देव भी भगवान् ही हैं। भक्त को वैकुण्ठ में भगवान् के साथ रहने के लिए भेज दिया जाता है।

*सार्ष्टि* मोक्ष में भक्त का ऐश्वर्य भगवान् के ऐश्वर्य के तुल्य होता है। *सामीप्य* का अर्थ है भगवान् का साक्षात् पार्षद होना। *सारूप्य* मोक्ष में भक्त का स्वरूप केवल दो-तीन लक्षणों को छोड़कर भगवान् जैसा ही होता है। उदाहरणार्थ, श्रीवत्स के द्वारा भगवान् अपने भक्त से पृथक् हैं।

शुद्ध भक्त इन पाँच प्रकार के मोक्षों को प्रदान किये जाने पर भी स्वीकार नहीं करता। वह भौतिक लाभों की कामना नहीं करता, क्योंकि आध्यात्मिक लाभों की तुलना में ये नगण्य होते हैं। जब प्रह्लाद महाराज को भौतिक लाभ प्रदान किया जा रहा था, तो वे बोले, “हे प्रभु! मैं देख चुका हूँ कि मेरे पिता को सभी प्रकार के भौतिक लाभ प्राप्त थे, यहाँ तक कि देवता भी उनके ऐश्वर्य से भयभीत रहते थे, फिर भी आपने एक क्षण में उनके जीवन का तथा उनकी सारी सम्पन्नता का अन्त कर दिया।” भक्त के लिए भौतिक या आध्यात्मिक सम्पन्नता कोई महत्त्व नहीं रखती। उसकी एकमात्र आकांक्षा भगवान् की सेवा करने की होती है। यही सर्वोच्च सुख है।

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।  
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सः—यह; एव—निस्सन्देह; भक्ति-योग—भक्ति; आख्यः—नामक; आत्यन्तिकः—सर्वोच्च पद; उदाहृतः—कहा गया; येन—जिससे; अतिव्रज्य—लाँघ कर; त्रि-गुणम्—प्रकृति के तीनों गुण; मत्-भावाय—मेरे दिव्य पद को; उपपद्यते—प्राप्त करता है।

जैसा कि मैं बता चुका हूँ, भक्ति का उच्च पद प्राप्त करके मनुष्य प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव को लाँघ सकता है और दिव्य पद पर स्थित हो सकता है, जिस तरह भगवान् हैं।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी चिन्तकों के अग्रणी माने जाने वाले श्रीपाद शंकराचार्य ने *भगवद्गीता* की अपनी टीका के प्रारम्भ में स्वीकार किया कि भगवान् नारायण भौतिक सृष्टि से परे हैं; उन्हें छोड़कर प्रत्येक वस्तु भौतिक सृष्टि के भीतर है। वैदिक साहित्य में भी इसी की पुष्टि हुई है कि सृष्टि के पूर्व केवल नारायण थे—तब न तो ब्रह्मा थे, न शिव। केवल नारायण, या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु या कृष्ण सदैव भौतिक सृष्टि के प्रभाव के परे दिव्य पद में रहते हैं।

भगवान् की स्थिति को सतो, रजो तथा तमो गुण प्रभावित नहीं कर पाते इसीलिए वे *निर्गुण* (भौतिक गुणों के सभी प्रभावों से मुक्त) कहलाते हैं। यहाँ पर इसी तथ्य की पुष्टि भगवान् कपिल द्वारा दी गई है—जो शुद्ध भक्ति में स्थित है, वह भगवान् के ही समान दिव्य पद पर स्थित है। जिस प्रकार भगवान् प्रकृति गुणों के प्रभाव से अप्रभावित रहते हैं उसी तरह उनके शुद्ध भक्त भी हैं। जो प्रकृतिक के तीन गुणों से प्रभावित नहीं होता वह मुक्त जीव या 'ब्रह्मभूत' कहलाता है। *ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा* मुक्ति की अवस्था है। *अहं ब्रह्मास्मि*—“मैं यह शरीर नहीं हूँ”—यह कथन उस व्यक्ति पर लागू होता है, जो निरन्तर कृष्ण की भक्ति में लगा रहता है और इस तरह दिव्य अवस्था में रहता है। वह प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव से ऊपर रहता है।

यह तो निर्विशेषवादियों की भ्रान्त धारणा है कि मनुष्य ईश्वर या ब्रह्मा के किसी काल्पनिक रूप की पूजा कर सकता है और अन्त में ब्रह्मतेज में लीन हो जाता है। निस्सन्देह, परमेश्वर के शारीरिक (ब्रह्म) तेज में लीन होना भी मोक्ष है, जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है। *एकत्व* भी मोक्ष है, किन्तु कोई भी भक्त इस प्रकार के मोक्ष को अंगीकार नहीं करता, क्योंकि ज्योंही कोई भक्ति में स्थित होता है उसे तुरन्त एकात्म प्राप्त हो जाता है। भक्त के लिए ऐसा

एकात्म, जो निर्गुण मोक्ष का प्रतिफल है, पहले से प्राप्त रहता है, उसे इसके लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना होता। यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि शुद्ध भक्ति से ही मनुष्य भगवान् के समान हो जाता है।

निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।

क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्त्रेण नित्यशः ॥ १५ ॥

#### शब्दार्थ

निषेवितेन—की गई; अनिमित्तेन—फल की आकांक्षा के बिना, निष्काम भाव से; स्व-धर्मेण—अपने नियत कार्यों से; महीयसा—महिमायुक्त; क्रिया-योगेन—भक्ति सम्बन्धी कार्यों के द्वारा; शस्तेन—शुभ; न—बिना; अतिहिंस्त्रेण—अत्यधिक हिंसा से; नित्यशः—नियमित रूप से।

भक्त को अपने नियत कार्यों को सम्पन्न करना चाहिए, जो यशस्वी हों और बिना किसी भौतिक लाभ के हों। उसे अधिक हिंसा किये बिना अपने भक्ति कार्य नियमित रूप से करने चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र वर्णों के अनुसार अपने नियत कर्म करने होते हैं। *भगवद्गीता* में भी मानव समाज के चार विभिन्न वर्णों के नियत कर्मों का वर्णन हुआ है। ब्राह्मणों के कर्म हैं इन्द्रियों को वश में करना तथा सरल, स्वच्छ एवं विद्वान भक्त बनना। क्षत्रियों में शासन की प्रवृत्ति होती है, वे युद्ध-भूमि में डरते नहीं और दानशील होते हैं। वैश्य अथवा व्यापारी वर्ग व्यापार करते हैं, गायों की रक्षा करते हैं और कृषि उपज में विकास करते रहते हैं। शूद्र अथवा श्रमिक वर्ग उच्चतर जातियों की सेवा करते हैं, क्योंकि वे स्वयं अधिक बुद्धिमान नहीं होते।

जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है—*स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य*—हर अवस्था में मनुष्य अपने-अपने नियत कर्म करता हुआ भगवान् की सेवा कर सकता है। ऐसा नहीं है कि केवल ब्राह्मण ही परमेश्वर की सेवा कर सकता है और शूद्र नहीं। कोई भी अपने गुरु अथवा भगवान् के प्रतिनिधि के निर्देशन में अपने-अपने निर्धारित कर्मों को करता हुआ भगवान् की सेवा कर सकता है। किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि उसके कर्म निम्न हैं। ब्राह्मण अपनी बुद्धि के प्रयोग से तथा क्षत्रिय अपनी सैन्य चातुरी से भगवान् की सेवा कर सकता है जैसी कि

अर्जुन ने कृष्ण की सेवा की। अर्जुन योद्धा था, उसके पास वेदान्त या कोई बौद्धिक ग्रंथ पढ़ने के लिए समय नहीं था। ब्रजधाम की अंगनाएँ वैश्य जाति में उत्पन्न थीं और वे गायों की रक्षा तथा कृषि-कर्म में लगी रहती थीं। कृष्ण के धर्मपिता नन्द महाराज तथा उनके सहकर्मी सभी वैश्य थे। वे थोड़े भी शिक्षित नहीं थे, किन्तु वे कृष्ण को प्रेम द्वारा तथा प्रत्येक वस्तु उन्हें ही अर्पित करके उनकी सेवा करते थे। इसी प्रकार ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ चण्डाल तक कृष्ण की सेवा करते थे। यही नहीं, विदुर मुनि भी शूद्र समझे जाते थे, क्योंकि इनकी माँ शूद्र थीं। किन्तु उनमें कोई अन्तर नहीं माना जाता था, क्योंकि *भगवद्गीता* में भगवान् की घोषणा है कि जो कोई भी भक्ति में लगा रहता है, वह निःसंशय दिव्य पद को प्राप्त होता है। हर एक व्यक्ति का कर्म महत्त्वपूर्ण है यदि वह निष्काम भाव से भगवान् की भक्ति के लिए किया जाय। ऐसी प्रेमा-भक्ति अकारण, निबीध तथा इच्छानुसार सम्पन्न होनी चाहिए। कृष्ण प्रेय हैं और हर एक को उनकी सेवा करनी चाहिए। यही शुद्ध भक्ति है।

इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण पद है *नातिहिंसेण* (कम से कम हिंसा या जीवन की बलि करते हुए)। यदि भक्त को हिंसा का सहारा लेना ही पड़े तो आवश्यकता से अधिक नहीं होनी चाहिए। कभी-कभी हमसे यह प्रश्न पूछा जाता है, “आप मांस न खाने की बात करते हैं, किन्तु आप शाक खाते हैं। क्या यह हिंसा नहीं है?” इसका उत्तर यह है कि शाकाहार हिंसा है और शाकाहारी भी अन्य जीवों की हिंसा कर रहे हैं, क्योंकि शाक में भी जीवन है। अभक्त लोग भोजन के लिए गाएँ, बकरे तथा न जाने कितने पशुओं को मार रहे हैं और एक शाकाहारी भक्त भी वध करता है। किन्तु यहाँ इसका विशेष रूप से उल्लेख है कि प्रत्येक जीव को जीवित रहने के लिए दूसरे जीवों का वध करना पड़ता है, यह प्रकृति का नियम है। *जीवो जीवस्य जीवनम्*—एक जीव दूसरे जीव का जीवन है। किन्तु मनुष्य को चाहिए कि जितनी आवश्यक हो उतनी ही हिंसा करे।

मनुष्य को ऐसी कोई वस्तु नहीं खानी चाहिए जो भगवान् को अर्पित न हुई हो। *यज्ञ शिष्टाशिनः सन्तः*—यज्ञ अर्थात् भगवान् को अर्पित खाद्य पदार्थ खाने से मनुष्य समस्त पापों से



मुक्त हो जाता है। अतः भक्त केवल प्रसाद अथवा भगवान् को अर्पित भोजन ही ग्रहण करता है और कृष्ण कहते हैं कि जब भक्त उन पर भक्तिपूर्वक वनस्पति जगत से प्राप्त खाद्य सामग्री अर्पित करता है, तो वे उसे खाते हैं। भक्त कृष्ण को वनस्पतियों (शाक) से तैयार किया गया भोजन अर्पित करे। यदि भगवान् पशुओं से तैयार खाद्य सामग्री चाहते होते तो भक्त उसी की भेंट चढ़ाता। किन्तु भगवान् ने ऐसा न करने का आदेश दिया है।

हमें हिंसा करनी ही पड़ती है, यह एक प्राकृतिक नियम है। किन्तु हमें अंधाधुंध हिंसा नहीं करनी चाहिए, केवल उतनी ही करनी चाहिए जितने का भगवान् से आदेश प्राप्त है। अर्जुन वध-कार्य में लगा रहा और यद्यपि वध करना हिंसा है, तो भी उसने कृष्ण की आज्ञा से शत्रुओं का वध किया। इसी प्रकार यदि हम आवश्यकतानुसार भगवान् के आदेश से हिंसा करते हैं, तो वह *नातिहिंसा* कहलाती है। हम हिंसा से बच नहीं सकते, किन्तु हमें उतनी ही हिंसा करनी चाहिए जितने का आदेश भगवान् से प्राप्त है।

मद्भिष्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः ।

भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च ॥ १६ ॥

#### शब्दार्थ

मत्—मेरी; धिष्य—मूर्ति, प्रतिमा; दर्शन—देखना; स्पर्श—छूना; पूजा—पूजा करना; स्तुति—प्रार्थना; अभिवन्दनैः—नमस्कार या वन्दना द्वारा; भूतेषु—समस्त जीवों में; मत्—मेरा; भावनया—विचार से; सत्त्वेन—सतोगुण से; असङ्गमेन—विरक्ति से; च—तथा।

भक्त को नियमित रूप से मन्दिर में मेरी प्रतिमा का दर्शन करना, मेरे चरणकमल स्पर्श करना तथा पूजन सामग्री एवं प्रार्थना अर्पित करना चाहिए। उसे सात्त्विक भाव से वैराग्य दृष्टि रखनी चाहिए और प्रत्येक जीव को आध्यात्मिक दृष्टि से देखना चाहिए।

तात्पर्य : भक्त के कार्यों में से एक है मन्दिर-पूजा। नवदीक्षितों के लिए इसकी संस्तुति की जाती है, किन्तु जो उन्नत हो चुके हैं, उन्हें मन्दिर-पूजा के प्रति आनाकानी नहीं करनी चाहिए। मन्दिर में भगवान् की उपस्थिति एक नवदीक्षित तथा एक उन्नत भक्त के लिए एकसी नहीं होती। एक नवदीक्षित *अर्चाविग्रह* (भगवान् की प्रतिमा) को मूल भगवान् से भिन्न मानता है, वह इसे देवता (विग्रह) के रूप में भगवान् का स्वरूप मानता है। किन्तु उन्नत भक्त मन्दिर

के विग्रह (देवता) को परमेश्वर करके मानता है। वह भगवान् के मूल रूप तथा मन्दिर के भगवान् के *अर्चाविग्रह* या प्रतिमा में कोई अन्तर नहीं देखता। यह उस भक्त की दृष्टि है, जिसकी भक्ति 'भाव' अथवा भगवद्प्रेम की सर्वोच्च अवस्था में होती है, जबकि नवदीक्षित के लिए मन्दिर पूजा एक नैतिक कर्म के रूप में होती है।

मन्दिर में विग्रह-पूजा भक्त के कर्मों में से है। वह नियमित रूप से सुन्दर ढंग से सज्जित विग्रह का दर्शन करने जाता है और अत्यन्त आदर के साथ भगवान् के चरणकमलों का स्पर्श करके, फल, फूल तथा स्तुति जैसी पूजा की भेंट चढ़ाता है। साथ ही, भक्त को चाहिए कि भक्ति में अग्रसर होने के लिए वह अन्य जीवों को आध्यात्मिक स्फुलिंग या परमेश्वर के अंश रूप में देखे। भक्त को प्रत्येक जीव का आदर करना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् से सम्बन्धित है। चूँकि सभी जीव मूलतः भगवान् के अंश होने के कारण उनसे सम्बन्धित हैं, अतः भक्त को चाहिए कि उन्हें समान आध्यात्मिक स्तर पर समझे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, पंडित की दृष्टि में एक विद्वान् ब्राह्मण, शूद्र, शूकर, कुत्ता तथा गाय एक समान होते हैं। वह उनके शरीर को नहीं देखता, क्योंकि शरीर तो बाह्य वस्त्र के समान है। वह ब्राह्मण या गाय या शूकर के वेश को नहीं देखता। वह तो उस आध्यात्मिक स्फुलिंग को देखता है, जो भगवान् का अंश-रूप है। यदि भक्त प्रत्येक जीव को भगवान् के अंश-रूप में नहीं देखता तो वह *प्रकृति-भक्त* कहलाता है। वह पूर्णतया आध्यात्मिक पद पर स्थित नहीं होता, अपितु वह भक्ति की निम्नतम अवस्था में होता है। किन्तु वह प्रतिमा (विग्रह) के प्रति समस्त आदर प्रदर्शित करता है।

भक्त यद्यपि समस्त जीवों को आध्यात्मिक स्तर पर देखता है, किन्तु वह हर एक की संगति करने के लिए लालायित नहीं रहता। चूँकि शेर भगवान् का अंश है, अतः इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हम उसे गले लगा लें। हमें केवल ऐसे ही व्यक्तियों की संगति करनी चाहिए जिनमें कृष्णभक्ति हो।

हमें ऐसे व्यक्तियों को मित्र बनाना चाहिए और उनका सम्मान करना चाहिए जिन्होंने

कृष्णभक्ति विकसित कर ली है। अन्य जीव असंदिग्ध रूप से परमेश्वर के अंश हैं, किन्तु चूँकि उनकी चेतना अब भी प्रच्छन्न है और कृष्णभक्ति विकसित नहीं हुई, अतः हमें उनकी संगति छोड़ देनी चाहिए। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि वैष्णव होते हुए भी यदि किसी का चरित्र अच्छा न हो तो उसकी संगति से बचना चाहिए, भले ही वैष्णव के रूप में वह पूजित क्यों न हो। जो भी विष्णु को भगवान् के रूप में स्वीकार करता है, वह वैष्णव है, किन्तु वैष्णव से आशा की जाती है कि वह अपने में देवताओं के सद्गुण विकसित करे।

श्रीधर स्वामी ने *सत्त्वेन* शब्द का सही अर्थ धैर्य का पर्यायवाची माना है। मनुष्य को अत्यन्त धैर्यपूर्वक भक्ति करनी चाहिए। उसे भक्ति करनी इसलिए नहीं छोड़ देनी चाहिए कि उसके एक या दो प्रयास असफल रहे हैं। उसे प्रयास करते रहना चाहिए। श्रीरूप गोस्वामी भी पुष्टि करते हैं कि मनुष्य में उमंग होनी चाहिए और अत्यन्त धैर्य तथा विश्वास के साथ भक्ति करनी चाहिए। यह विश्वास उत्पन्न करने के लिए कि, “कृष्ण मुझे अवश्य स्वीकार करेंगे, क्योंकि मैं भक्ति कर रहा हूँ” धैर्य अनिवार्य है। सफलता के लिए आवश्यक है कि विधि-विधानों के अनुसार सेवा की जाय।

महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।

मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥ १७ ॥

#### शब्दार्थ

महताम्—महापुरुषों को; बहु-मानेन—अत्यन्त सम्मान से; दीनानाम्—गरीबों को; अनुकम्पया—दया से; मैत्र्या—मित्रता से; च—तथा; एव—निश्चय ही; आत्म-तुल्येषु—अपने समान व्यक्तियों को; यमेन—इन्द्रियों को वश में करके; नियमेन—नियमपूर्वक; च—तथा ।

भक्त को चाहिए कि गुरु तथा आचार्यों को सर्वोच्च सम्मान प्रदान करते हुए भक्ति करे। उसे दीनों पर दयालु होना चाहिए और अपनी बराबरी के व्यक्तियों से मित्रता करनी चाहिए, किन्तु उसके सारे कार्यकलाप नियमपूर्वक तथा इन्द्रिय-संयम के साथ सम्पन्न होने चाहिए।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मनुष्य को भक्ति करनी चाहिए और *आचार्य* के गुरु बना करके ही आध्यात्मिक ज्ञान के पथ पर अग्रसर होना

चाहिए। *आचार्योपासनम्*—मनुष्य को आचार्य की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि *आचार्य* वह गुरु है, जो वस्तुओं को यथा-रूप जानता है। गुरु को कृष्ण से चली आ रही शिष्य-परम्परा में होना चाहिए। किसी गुरु का पूर्ववर्ती उसका गुरु होता है, जो उसका परम गुरु और उसका भी गुरु होता है और ये सब आचार्यों की शिष्य-परम्परा बनाते हैं।

यहाँ संस्तुति की गई है कि सभी आचार्यों का सर्वाधिक सम्मान किया जाय। कहा गया है : *गुरुषु नर मतिः*—जिसका अर्थ है गुरुओं को सामान्य व्यक्ति की भाँति सोचते हुए। किसी वैष्णव या भक्त को किसी जाति विशेष का सोचना, आचार्यों को सामान्य व्यक्ति के रूप में सोचना या मन्दिर की प्रतिमा को पत्थर, काष्ठ या धातु की बनी समझना निन्दनीय है। *नियमेन*—मान्य विधियों के अनुसार आचार्यों का सर्वाधिक सम्मान किया जाना चाहिए। भक्त को दीनों पर दयालु होना चाहिए। दीन का अर्थ ऐसा व्यक्ति नहीं जो भौतिक रूप से गरीबी के शिकार हैं। भक्ति की दृष्टि से वह व्यक्ति दीन है, जो कृष्णभक्त नहीं है। कोई व्यक्ति कितना ही धनवान क्यों न हो, किन्तु यदि वह कृष्णभक्त नहीं है, तो वह दीन (गरीब) है। दूसरी ओर रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी जैसे अनेक आचार्य हुए हैं, जो वृक्षों के नीचे रात-रात भर रहते थे। ऊपर से लगता था कि वे गरीबी से ग्रस्त हैं, किन्तु उनकी रचनाओं से पता चलता है कि आध्यात्मिक जीवन में वे कितने सम्पन्न महापुरुष थे।

जिनमें आध्यात्मिक ज्ञान का अभाव है, भक्त उन दीन आत्माओं को कृष्णभक्ति का मार्ग दिखलाकर दया दिखाते हैं। भक्त का यह कर्तव्य है। उसे ऐसे व्यक्तियों से मित्रता करनी चाहिए जो उसके समतुल्य हों या जिनका ज्ञान उसी के समान हो। भक्त को सामान्य व्यक्तियों के साथ मित्रता करने का कोई प्रयोजन नहीं है। उसे अन्य भक्तों के साथ मित्रता करनी चाहिए जिससे परस्पर विचार-विनिमय करके वे एक दूसरे को आध्यात्मिक बोध के पथ पर अग्रसर करा सकें। यह *इष्टगोष्ठी* कहलाती है।

*भगवद्गीता* में *बोधयन्तः परस्परम्*—“परस्पर विचार-विमर्श” करने का निर्देश है। सामान्यतः शुद्ध भक्त अपना अमूल्य समय भगवान् कृष्ण या भगवान् चैतन्य का कीर्तन करने

तथा उनके कार्यकलापों के विषय में परस्पर विचार-विमर्श करने में लगाते हैं। ऐसी असंख्य कृतियाँ हैं—यथा पुराण, महाभारत, भागवत, भगवद्गीता, उपनिषद् जिनमें भक्तों के विचार-विमर्श के अनुकूल असंख्य विषय हैं। पारस्परिक रुचियों तथा समझ के आधार पर व्यक्तियों के बीच मैत्री सुदृढ़ होनी चाहिए। ऐसे व्यक्ति 'स्वजाति' कहलाते हैं। भक्त को ऐसे व्यक्ति से बचना चाहिए जिसका चरित्र मानक विवेके अनुसार स्थिर न हो। भले ही वह वैष्णव या कृष्ण का भक्त क्यों न हो, यदि उसका चरित्र ठीक नहीं है, तो उससे दूर रहना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि धीरे-धीरे इन्द्रियों तथा मन पर संयम प्राप्त करे, विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करे तथा समान स्तर वाले व्यक्तियों से मित्रता स्थापित करे।

आध्यात्मिकानुश्रवणात्नामसङ्कीर्तनाच्च मे ।

आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहङ्कियया तथा ॥ १८ ॥

#### शब्दार्थ

आध्यात्मिक—आध्यात्मिक बातें; अनुश्रवणात्—सुनने से; नाम-सङ्कीर्तनात्—पवित्र नाम के संकीर्तन से; च—तथा; मे—मेरा; आर्जवेन—सरल आचरण से; आर्य-सङ्गेन—साधु पुरुषों की संगति से; निरहङ्कियया—अहंकार रहित; तथा—इस प्रकार।

भक्त को चाहिए कि आध्यात्मिक बात ही सुने और अपने समय का सदुपयोग भगवान् के पवित्र नाम के जप में करे। उसका आचरण सुस्पष्ट एवं सरल हो। किन्तु वह ईर्ष्यालु न हो। वह सबों के प्रति मैत्रीपूर्ण होते हुए भी ऐसे व्यक्तियों की संगति से बचे जो आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत नहीं हैं।

तात्पर्य : आध्यात्मिक बोध में अग्रसर होने के लिए आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में प्रामाणिक स्रोतों से श्रवण करना होता है। आध्यात्मिक जीवन की वास्तविकता समझने के लिए कठोर अनुष्ठानों का पालन करना चाहिए और इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना चाहिए। नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अहिंसक तथा सत्यनिष्ठ बने, चोरी न करे, विषयी जीवन से दूर रहे और जीवन-निर्वाह के लिए कम से कम आवश्यक वस्तुएँ ही अपने पास रखे। वह न तो आवश्यकता से अधिक भोजन करे, न आवश्यकता से अधिक साज-सामान एकत्र करे; सामान्य व्यक्तियों से वृथा वार्तालाप न करे और बिना किसी उद्देश्य के

विधि-विधानों को न अपनाए। केवल उन्हीं विधि-विधानों का पालन करे जिनसे वास्तविक प्रगति हो सके।

*भगवद्गीता* में अठरह गुण बताये गये हैं जिनमें से सादगी या सरलता भी एक है। मनुष्य को न तो गर्व करना चाहिए, न अन्यो से व्यर्थ का सम्मान कराना चाहिए। उसे अहिंसक होना चाहिए। *अमानित्वम् अदम्भित्वम् अहिंसा*। मनुष्य को अत्यन्त सहिष्णु तथा सरल होना चाहिए, उसे गुरु बनाना चाहिए और इन्द्रियों पर संयम रखना चाहिए। इसका उल्लेख यहाँ पर और साथ ही *भगवद्गीता* में भी हुआ है। मनुष्य को प्रामाणिक स्रोतों से श्रवण करना चाहिए कि आध्यात्मिक जीवन में किस तरह प्रगति की जाय। ऐसे उपदेश आचार्य से ग्रहण करने चाहिए और उनको आत्मसात् करना चाहिए।

यहाँ पर *नाम-संकीर्तनाच्च* का विशेष उल्लेख है—अर्थात् मनुष्य को भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन या तो अकेले या मिलकर करना चाहिए। भगवान् चैतन्य ने आध्यात्मिक उन्नति के मूलभूत सिद्धान्त के रूप में भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन पर विशेष बल दिया है। एक अन्य शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है—*आर्जवेन* जिसका अर्थ है “बिना कूटनीति के।” भक्त को अपने हितार्थ कोई योजना नहीं बनानी चाहिए। निस्सन्देह, धर्मोपदेशकों को भगवान् के ध्येय को पूरा करने के लिए कभी-कभी समुचित मार्ग-निर्देशन के अन्तर्गत कुछ योजनाएँ बनानी पड़ती हैं, किन्तु जहाँ तक अपना हित है उसके सम्बन्ध में भक्त को सदैव कूटनीति से रहित होना चाहिए और उसे ऐसे व्यक्तियों से दूर रहना चाहिए जो आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर पा रहे। एक अन्य *आर्य* भी शब्द प्रयुक्त हुआ है। *आर्य* वे व्यक्ति हैं, जो कृष्णचेतना में प्रगति करने के साथ ही भौतिक समृद्धि में भी उन्नति करते हैं। *आर्य* तथा *अनार्य* या सुर तथा असुर के बीच जो अन्तर है, वह उनकी आध्यात्मिक प्रगति के स्तरों में अन्तर है। ऐसे व्यक्तियों की संगति वर्जित है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत नहीं हैं। भगवान् चैतन्य का उपदेश था—*असत्-सङ्ग-त्याग*—जो लोग नाशवान वस्तुओं के प्रति अनुरक्त हैं ऐसे व्यक्तियों का त्याग करो। *असत्* वह

है, जो भौतिक दृष्टि से अनुरक्त है, जो भगवान् का भक्त नहीं है तथा स्त्रियों या भोग्य वस्तुओं के प्रति अत्यधिक आसक्त रहता है। वैष्णव दर्शन के अनुसार ऐसा व्यक्ति अप्रिय पात्र है।

भक्त को अपनी कमाई पर गर्व नहीं होना चाहिए। भक्त के लक्षण हैं उसकी विनयशीलता तथा सहिष्णुता। भले ही वह आध्यात्मिक दृष्टि से कितना ही उन्नत क्यों न हो वह सदैव विनीत तथा सहिष्णु बना रहता है, जैसाकि कविराज गोस्वामी तथा अन्य वैष्णवों ने अपने उदाहरणों द्वारा हमें शिक्षा दी है। चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा थी कि मनुष्य को रास्ते की घास से भी अधिक विनीत तथा वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होना चाहिए। उसे न तो गर्व करना चाहिए न झूठे ही फूला रहना चाहिए। इस प्रकार वह आध्यात्मिक जीवन में निश्चित रूप से प्रगति कर सकेगा।

मद्धर्मणो गुणैरैतैः परिसंशुद्ध आशयः ।

पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मत्-धर्मणः—मेरे भक्त के; गुणैः—गुणों से; एतैः—इन; परिसंशुद्धः—पूर्णतया शुद्ध; आशयः—चेतना; पुरुषस्य—पुरुष की; अञ्जसा—तुरन्त; अभ्येति—निकट आता है; श्रुत—सुनकर; मात्र—केवल; गुणम्—गुण; हि—निश्चय ही; माम्—मुझको।

जब मनुष्य इन समस्त लक्षणों से पूर्णतया सम्पन्न होता है और इस तरह उसकी चेतना पूरी तरह शुद्ध हो लेती है, तो वह मेरे नाम या मेरे दिव्य गुण के श्रवण मात्र से तुरन्त ही आकर्षित होने लगता है।

तात्पर्य : इस उपदेश के प्रारम्भ में ही भगवान् ने अपनी माता को बताया कि *मद्गुण-श्रुति-मात्रेण*—मेरे ( भगवान् ) नाम, गुण, रूप आदि के श्रवण मात्र से मनुष्य अनुरक्त हो जाता है। विभिन्न शास्त्रों द्वारा अनुमोदित विधि-विधानों का पालन करने से मनुष्य समस्त दिव्य गुणों में पूर्ण योग्य बन जाता है। भौतिक संगति के कारण हमने जो कुछ अनावश्यक गुण विकसित कर लिये हैं उस कल्मष से उपर्युक्त प्रक्रिया का पालन करके हम छूट सकते हैं। पिछले श्लोक में वर्णित दिव्य गुणों को विकसित करने के लिए हमें इन कल्मषग्रस्त गुणों से मुक्त होना चाहिए।

यथा वातरथो घ्राणमावृद्धे गन्ध आशयात् ।

एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥ २० ॥

### शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; वात—वायु का; रथः—रथ; घ्राणम्—सूंघने की इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय; आवृद्धे—ग्रहण करती है;  
गन्धः—सुगन्धि; आशयात्—स्रोत से; एवम्—उसी तरह; योग-रतम्—भक्ति में लगी हुई; चेतः—चेतना;  
आत्मानम्—परमात्मा; अविकारि—अपरिवर्तनशील; यत्—जो ।

जिस प्रकार वायु का रथ गन्ध को उसके स्रोत से ले जाता है और तुरन्त घ्राणेन्द्रिय तक पहुँचाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति निरन्तर कृष्णभावनाभावित भक्ति में संलग्न रहता है, वह सर्वव्यापी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : जिस तरह उद्यान के फूलों की सुगन्ध को ले जाने वाला समीर तुरन्त घ्राणेन्द्रिय तक पहुँच जाता है उसी प्रकार भक्ति-भाव से सिक्त-चेतना (भावना) परमेश्वर के दिव्य अस्तित्व तक पहुँच जाती है, क्योंकि भगवान् अपने परमात्मा रूप में सर्वत्र, प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान रहते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् क्षेत्रज्ञ हैं, इस शरीर के भीतर विद्यमान हैं, किन्तु एक ही समय वे अन्य शरीर में भी रहते हैं। चूँकि अमुक आत्मा किसी अमुक शरीर में ही विद्यमान रहता है, अतः जब अन्य आत्मा उसका साथ नहीं देता तो वह बदल जाता है। किन्तु परमात्मा समान रूप से सर्वत्र विद्यमान रहता है। व्यष्टि आत्माएँ विरोधी हो सकती हैं; किन्तु हर शरीर में विद्यमान होने के कारण परमात्मा अविकारी अर्थात् अपरिवर्तनशील कहलाता है। जब व्यष्टि आत्मा कृष्णभक्ति से सिक्त हो जाता है तभी वह परमात्मा की उपस्थिति को समझ सकता है। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि कृष्णभावनामृत से पूरित व्यक्ति ही भगवान् को या तो परमात्मा या परम पुरुष के रूप में जान सकता है( *भक्त्या माम् अभिजानाति*) ।

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।

तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥ २१ ॥

### शब्दार्थ



अहम्—मैं; सर्वेषु—समस्त; भूतेषु—जीवों में; भूत-आत्मा—सभी जीवों में परमात्मा; अवस्थितः—स्थित; सदा—सदैव; तम्—उस ( परमात्मा ) को; अवज्ञाय—अनादर करके; माम्—मुझको; मर्त्यः—मरणशील व्यक्ति; कुरुते—करता है; अर्चा—विग्रह की पूजा का; विडम्बनम्—अनुकरण, स्वाँग।

मैं प्रत्येक जीव में परमात्मा रूप में स्थित हूँ। यदि कोई 'परमात्मा सर्वत्र है' इसकी उपेक्षा या अवमानना करके अपने आपको मन्दिर के विग्रह-पूजन में लगाता है, तो यह केवल स्वाँग या दिखावा है।

तात्पर्य : विशुद्ध चेतनामय या कृष्णभावनाभावित होने पर मनुष्य को सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दिखते हैं। अतः यदि कोई मन्दिर में विग्रह-पूजा में ही लगा रहता है और अन्य जीवों को मान्यता नहीं देता तो वह भक्ति की निम्नतम अवस्था में होता है। जो मन्दिर में विग्रह-पूजन करता है और अन्यो के प्रति सम्मान नहीं दिखाता वह भौतिक भक्त है और भक्ति की निम्नतम अवस्था में स्थित होता है। भक्त को चाहिए कि प्रत्येक वस्तु को कृष्ण से सम्बन्धित समझे और उसी भाव से हर प्राणी की सेवा करे। हर वस्तु की सेवा करने का अर्थ है भगवान् की सेवा में हर वस्तु को लगाना। यदि कोई व्यक्ति अबोध है और कृष्ण से अपने सम्बन्ध को नहीं जानता, तो किसी सिद्ध भक्त को चाहिए कि उसे कृष्ण की सेवा में लगावे। ऐसा सिद्ध भक्त न केवल जीवों को, अपितु हर वस्तु को कृष्ण की सेवा में लगा सकता है।

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।

हित्वार्चा भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥ २२ ॥

#### शब्दार्थ

यः—जो; माम्—मुझको; सर्वेषु—सभी; भूतेषु—जीवों में; सन्तम्—उपस्थित होकर; आत्मानम्—परमात्मा; ईश्वरम्—परमात्मा को; हित्वा—उपेक्षा करके; अर्चाम्—विग्रह को; भजते—पूजता है; मौढ्यात्—अज्ञानवश; भस्मनि—राख में; एव—केवल; जुहोति—आहुति डालता है; सः—वह।

जो मन्दिरों में भगवान् के विग्रह का पूजन करता है, किन्तु यह नहीं जानता कि परमात्मा रूप में परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में आसीन हैं, वह अज्ञानी है और उसकी तुलना उस व्यक्ति से की जाती है, जो राख में आहुतियाँ डालता है।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् परमात्मा के पूर्ण अंश रूप में समस्त जीवों में विद्यमान हैं। जीवों के कुल मिलाकर ८४,००,००० विभिन्न प्रकार के शरीर हैं और पूर्ण

पुरुषोत्तम भगवान् प्रत्येक शरीर में व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा के रूप में निवास कर रहा है। चूँकि प्रत्येक आत्मा परमेश्वर का अंश है, इस तरह भगवान् हर शरीर में वास करता है और परमात्मा के रूप में वह साक्षी के रूप में भी रहता है। दोनों ही तरह से प्रत्येक जीव में ईश्वर की उपस्थिति अनिवार्य है। अतः जो लोग अपने को किसी धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध मानते हैं, किन्तु हर जीव में तथा अन्यत्र सर्वत्र भगवान् के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वे तमो गुण के आधीन हैं।

यदि भगवान् की सर्वव्यापकता के इस प्राथमिक ज्ञान के बिना कोई मन्दिर, मसजिद या गिरजाघर के अनुष्ठानों में ही अपने आपको लगाता है, तो यह उसी तरह है जैसे कोई अग्नि में घी की आहुति न डालकर राख में डाल रहा हो। किन्तु यदि वैदिक मन्त्र तथा अन्य सारी परिस्थितियाँ अनुकूल हों और घी को राख में डाल दिया जाय तो ऐसा यज्ञ व्यर्थ होता है। दूसरे शब्दों में, भक्त को चाहिए कि किसी जीव की अवहेलना न करे। भक्त को जानना चाहिए कि जीव कितना ही तुच्छ क्यों न हो, भले ही वह चींटी हो, सबमें ईश्वर उपस्थित है, अतः प्रत्येक जीव के साथ सदय व्यवहार होना चाहिए और उसके साथ किसी प्रकार की हिंसा नहीं की जानी चाहिए। आधुनिक सभ्य समाज में नियमित कसाईघर चल रहे हैं और वे विशेष प्रकार के धार्मिक सिद्धान्त से समर्थित हैं। किन्तु प्रत्येक जीव में ईश्वर की उपस्थिति को जाने बिना मानव सभ्यता की कोई भी तथाकथित प्रगति, चाहे आध्यात्मिक हो या भौतिक, तामसी समझी जाएगी।

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।

भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥ २३ ॥

#### शब्दार्थ

द्विषतः—द्वेष रखने वाले का; पर-काये—दूसरे के शरीर के प्रति; माम्—मुझको; मानिनः—आदर करते हुए; भिन्न-दर्शिनः—पृथकतवादी का; भूतेषु—जीवों के प्रति; बद्ध-वैरस्य—शत्रुता रखने वाले का; न—नहीं; मनः—मन; शान्तिम्—शान्ति; ऋच्छति—प्राप्त करता है।

जो मुझे श्रद्धा अर्पित करता है, किन्तु अन्य जीवों से ईर्ष्यालु है, वह इस कारण पृथकतावादी है। उसे अन्य जीवों के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार करने के कारण कभी भी

मन की शान्ति प्राप्त नहीं हो पाती।

तात्पर्य : इस श्लोक में भूतेषु बद्धवैरस्य (अन्यों के प्रति शत्रुतापूर्ण) तथा द्विषतः परकाये (अन्य के शरीर से ईर्ष्यालु) ये दो वाक्यांश महत्त्वपूर्ण हैं। जो व्यक्ति अन्यों के प्रति द्वेष-भाव या शत्रुता रखता है, वह कभी सुखी नहीं रहता। अतः भक्त की दृष्टि परिपूर्ण होनी चाहिए। उसे शारीरिक उपाधियों की अनदेखी करते हुए परमेश्वर के अंश तथा परमात्मा के रूप में साक्षात् भगवान् की उपस्थिति देखनी चाहिए। यही शुद्ध भक्त की दृष्टि है। भक्त द्वारा किसी जीव की बाह्य शारीरिक अभिव्यक्ति की उपेक्षा की जाती है।

यहाँ यह व्यक्त हुआ है कि भगवान् बद्धजीवों के उद्धार के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। भक्तों से अपेक्षा की जाती है कि वे भगवान् के उद्देश्य या उनकी इच्छा को ऐसे बद्धजीवों तक ले जावेंगे और उन्हें कृष्णभावनामृत से आलोकित करेंगे। इस प्रकार वे दिव्य भौतिक जीवन तक उठ सकते हैं और उनके जीवन का उद्देश्य सफल हो सकता है। निस्सन्देह जो जीव मनुष्य से निम्न हैं, उनके लिए ऐसा सम्भव नहीं है, किन्तु मानव समाज में तो यह सम्भव है कि सभी प्राणियों को कृष्णभक्ति से आलोकित किया जा सके। यहाँ तक कि मनुष्य से निम्न प्राणी भी अन्य विधियों से कृष्णभक्ति तक ऊपर उठाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, चैतन्य महाप्रभुके परम भक्त शिवानन्द सेन ने एक कुत्ते का प्रसाद खिलाकर उद्धार किया। यहाँ तक कि अज्ञानी जन-समुदाय तथा पशुओं को प्रसाद वितरित करने से उनको कृष्णभक्ति तक उठाने का अवसर मिल जाता है। वास्तव में ऐसा हुआ कि वही कुत्ता, जब चैतन्य महाप्रभु को पुरी में मिला तो उसे भवबन्धन से मुक्ति मिल गई।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेख है कि भक्त को सभी प्रकार की हिंसा (जीवहिंसा) से मुक्त होना चाहिए। भगवान् चैतन्य ने संस्तुति की है कि भक्त को किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि चूँकि वनस्पतियों में भी जीवन है और भक्तगण शाक खाते हैं, तो क्या यह हिंसा नहीं है? किन्तु पहले तो यह कि वृक्ष से कुछ पत्तियाँ, टहनियाँ या फल तोड़ने लेने से वह वृक्ष मरता नहीं। इसके अतिरिक्त, जीवहिंसा का

अर्थ है कि चूँकि प्रत्येक जीव को अपने पूर्वकर्म के अनुसार विशेष शरीर धारण करना पड़ता है, भले ही प्रत्येक जीव शाश्वत हो, अतः उसे अपने क्रमिक विकास से विचलित नहीं होना चाहिए। भक्त को भक्ति सम्बन्धी सारे नियम यथावत् पूरे करने होते हैं। उसे यह जानना चाहिए कि कोई जीव कितना ही क्षुद्र क्यों न हो उसके भीतर भगवान् उपस्थित हैं। भक्त को भगवान् की इस सर्वव्यापकता को समझना चाहिए।

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे ।

नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥ २४ ॥

#### शब्दार्थ

अहम्—मैं; उच्च-अवचैः—विविध; द्रव्यैः—सामग्री से; क्रियया—धार्मिक अनुष्ठानों से; उत्पन्नया—सम्पन्न; अनघे—हे निष्कलुष माता; न—नहीं; एव—निश्चय ही; तुष्ये—प्रसन्न होता हूँ; अर्चितः—पूजित; अर्चायाम्—प्रतिमा रूप में; भूत-ग्राम—अन्य जीवों को; अवमानिनः—अनादर करने वालों से।

हे माते, भले ही कोई पुरुष सही अनुष्ठानों तथा सामग्री द्वारा मेरी पूजा करता हो, किन्तु यदि वह समस्त प्राणियों में मेरी उपस्थिति से अनजान रहता है, तो वह मन्दिर में मेरे विग्रह की कितनी ही पूजा क्यों न करे, मैं उससे कभी प्रसन्न नहीं होता।

तात्पर्य : मन्दिर में अर्चा विग्रह पूजन के ६४ विविध प्रकार हैं। विग्रह को अनेक वस्तुएँ अर्पित की जाती हैं—कुछ बहुमूल्य तो कुछ कम मूल्यवान। *भगवद्गीता* में बताया गया है : “यदि कोई भक्त मुझे एक छोटा-सा फूल, एक पत्ती, कुछ जल या छोटा-सा फल भी अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार कर लेता हूँ।” वास्तविक प्रयोजन तो ईश्वर के प्रति प्रेमा-भक्ति को प्रकट करना है, भेंटें तो गौण हैं। यदि भगवान् के प्रति प्रेमा-भक्ति उत्पन्न नहीं हो पाई और यदि बिना वास्तविक भक्ति के भोजन, फल तथा फूल अर्पित किये जाते हैं, तो इस भेंट को भगवान् स्वीकार नहीं करते। हम भगवान् को घूस नहीं दे सकते। वे इतने महान् हैं कि हमारी घूस का कोई महत्त्व नहीं रहता। न ही उनके पास अभाव है। वे स्वयं पूर्ण हैं, तो फिर हम उन्हें क्या भेंट कर सकते हैं? हर वस्तु उन्हीं के द्वारा उत्पन्न है। हम केवल अपना प्रेम तथा कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

यह कृतज्ञता तथा ईश-प्रेम उस शुद्ध भक्त द्वारा प्रकट होता है, जो यह जानता है कि

भगवान् हर प्राणी में निवास करते हैं। इस तरह, मन्दिर-पूजा में प्रसाद वितरण सम्मिलित है। ऐसा नहीं है कि कोई अपने निजी घर में मन्दिर बना ले, भगवान् को कुछ अर्पित करे और तब खाये। हाँ, भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध समझे बिना भोजन बनाकर खाने की अपेक्षा ऐसा करना उत्तम है। जो लोग ऐसा करते हैं, वे पशुओं के तुल्य हैं। किन्तु जो भक्त ज्ञान के उच्चस्तर तक पहुँचना चाहता है उसे जानना चाहिए कि भगवान् प्रत्येक जीव में विद्यमान हैं और जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है उसे अन्य प्राणियों पर कृपालु होना चाहिए। भक्त को भगवान् की पूजा करनी चाहिए, अपने समधर्मियों के साथ मित्र-भाव रखना चाहिए और अज्ञानियों के प्रति दयालु होना चाहिए। अज्ञानी जीवों के प्रति कृपा दिखाने के लिए प्रसाद वितरण करना चाहिए। जो लोग भगवान् पर भेंट चढ़ाते हैं उनके लिए आवश्यक है कि अज्ञानी जन-समूह को प्रसाद बाँटें।

असली प्रेम तथा भक्ति भगवान् को ग्राह्य है। यदि मनुष्य भूखा न हो और उसको अनेक बहुमूल्य भोज्य पदार्थ भेंट किये जाँय तो यह उसके लिए व्यर्थ है। इसी प्रकार भले ही हम विग्रह को अनेक बहुमूल्य सामग्री अर्पित करें, किन्तु यदि हममें भक्तिभाव नहीं है और भगवान् की सर्वत्र उपस्थिति का बोध नहीं है, तो हममें भक्ति का अभाव है, ऐसी अज्ञान की अवस्था में हम भगवान् को स्वीकार्य कोई वस्तु भेंट नहीं कर सकते।

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।

यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥ २५ ॥

#### शब्दार्थ

अर्चा-आदौ—अर्चा पूजा इत्यादि; अर्चयेत्—पूजा करे; तावत्—तब तक; ईश्वरम्—भगवान् को; माम्—मुझ; स्व—अपना; कर्म—निर्दिष्ट कर्तव्य; कृत्—किये हुए; यावत्—जब तक; न—नहीं; वेद—अनुभव करता है; स्व-हृदि—अपने हृदय में; सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों में; अवस्थितम्—स्थित।

मनुष्य को चाहिए कि अपने निर्दिष्ट कर्म करते हुए भगवान् के अर्चाविग्रह का तब तक पूजन करता रहे, जब तक उसे अपने हृदय में तथा साथ ही साथ अन्य जीवों के हृदय में मेरी उपस्थिति का अनुभव न हो जाय।

तात्पर्य : यहाँ पर उन लोगों के लिए भी भगवान् के विग्रह (प्रतिमा) की पूजा करने की

आज्ञा दी गई है, जो केवल अपने निर्दिष्ट कर्म में लगे रहते हैं। विभिन्न वर्ण के लोगों यथा— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण के लोगों तथा विभिन्न आश्रमों यथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के लिए कुछ निर्दिष्ट कर्म हैं। मनुष्य को तब तक भगवान् के विग्रह (प्रतिमा) की पूजा करनी चाहिए जब तक वह प्रत्येक जीव में भगवान् की उपस्थिति का अनुभव न करने लगे। दूसरे शब्दों में, उस मनुष्य को अपने कर्तव्यों को सही-सही निबाहने में ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। उसे अपना तथा अन्य जीवों का भगवान् के साथ जो सम्बन्ध है, उसे अनुभव करना चाहिए। यदि वह इतना नहीं समझता, तो यह समझना चाहिए कि भले ही वह अपना कर्म ठीक से निबाह रहा हो, किन्तु वह व्यर्थ ही श्रम कर रहा है।

इस श्लोक में स्व-कर्म-कृत् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्व-कर्म-कृत् का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो अपने निर्दिष्ट कर्मों को पूरा करता है। ऐसा नहीं है कि जो भगवान् का भक्त बन जाता है अथवा भक्ति करता है, उसे अपने निर्दिष्ट कर्म बन्द कर देने चाहिए। किसी को भक्ति के बहाने आलसी नहीं बनना चाहिए। उसे निर्दिष्ट कर्मों के अनुसार भक्ति करनी है। स्व-कर्म-कृत् बताता है कि मनुष्य को बिना लापरवाही के अपने निर्दिष्ट कर्म करने चाहिए।

आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।  
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥ २६ ॥

#### शब्दार्थ

आत्मनः—स्व का, अपना; च—तथा; परस्य—दूसरे का; अपि—भी; यः—जो कोई; करोति—भेदभाव रखता है; अन्तरा—मध्य में; उदरम्—शरीर के; तस्य—उसका; भिन्न-दृशः—भेद-दर्शी; मृत्युः—मृत्यु के रूप में; विदधे—मैं उत्पन्न करता हूँ; भयम्—डर; उल्बणम्—महान्।

जो भी अपने में तथा अन्य जीवों के बीच भिन्न दृष्टिकोण के कारण तनिक भी भेदभाव करता है उसके लिए मैं मृत्यु की प्रज्वलित अग्नि के समान महान् भय उत्पन्न करता हूँ।

तात्पर्य : समस्त प्रकार के जीवों के बीच अनेक शारीरिक भिन्नताएं हैं, किन्तु भक्त को इस आधार पर एक जीव तथा दूसरे जीव में भेदभाव नहीं करना चाहिए। भक्त का दृष्टिकोण तो यह होना चाहिए कि समस्त प्रकार के जीवों में आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही समान रूप से

उपस्थित हैं ।

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।

अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥ २७ ॥

### शब्दार्थ

अथ—अतः; माम्—मुझको; सर्व-भूतेषु—समस्त प्राणियों में; भूत-आत्मानम्—सभी जीवों में आत्म ( स्व ); कृत-आलयम्—निवास करते हुए; अर्हयेत्—पूजा करनी चाहिए; दान-मानाभ्याम्—दान तथा आदर से; मैत्र्या—मित्रता से; अभिन्नेन—समान; चक्षुषा—देखने से।

अतः दान तथा सत्कार के साथ ही साथ मैत्रीपूर्ण आचरण से तथा सबों पर एक सी दृष्टि रखते हुए मनुष्य को मेरी पूजा करनी चाहिए, क्योंकि मैं सभी प्राणियों में उनके आत्मा के रूप में निवास करता हूँ।

तात्पर्य : लोगों की यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि चूँकि परमात्मा हर प्राणी के हृदय में वास करता है इसलिए व्यष्टि आत्मा उसके तुल्य है। परमात्मा तथा आत्मा की समानता निर्विशेषवादियों के मन की उपज है। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि आत्मा को भगवान् के सम्बन्ध में ही मान्यता देनी चाहिए। आत्मा की पूजा विधि यहाँ इस प्रकार बताई गई है कि या तो दान देकर, या पृथक्तावादी दृष्टिकोण से मुक्त होकर मैत्रीभाव से आचरण किया जाय। कभी-कभी निर्विशेषवादी बेचारे आत्मा को दरिद्र-नारायण के रूप में मान लेते हैं—जिसका अर्थ है भगवान् नारायण दरिद्र (गरीब) हो गये हैं। यह विरोधाभास है। भगवान् सर्व ऐश्वर्यों से परिपूर्ण हैं। वे किसी दरिद्र आत्मा के साथ अथवा पशु तक के साथ रहना स्वीकार कर लेंगे, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे दरिद्र हो गये हैं।

यहाँ पर संस्कृत के दो शब्द आये हैं—मान तथा दान। मान श्रेष्ठ का सूचक है और दान उसको बताता है, जो दान देता है या किसी कनिष्ठ पर दया दिखाता है। हम भगवान् को ऐसा निम्न व्यक्ति नहीं मान सकते जो हमारे दान पर आश्रित हो। जब हम दान देते हैं, तो सदैव अपने से निम्न भौतिक या आर्थिक अवस्था वाले को देते हैं। दान कभी धनी व्यक्ति को नहीं दिया जाता। इसी प्रकार अप्रत्यक्षतः बताया गया है कि मान या आदर श्रेष्ठ को दिया जाता है, जबकि दान अपने से निम्न को।

अपने कर्मफलों के अनुसार जीवात्मा धनी या निर्धन हो सकता है, किन्तु परमेश्वर अपरिवर्तित रहा आता है, वह तो सदैव छह ऐश्वर्यों से सम्पन्न रहता है। जीवों के प्रति समभाव रखने का अर्थ यह नहीं है कि उस जीव के साथ भगवान् जैसा व्यवहार बरता जाय। दया तथा मैत्री का अर्थ यह नहीं है कि किसी को झूठे ही परमेश्वर के उच्च पद तक उठा दिया जाय। किन्तु साथ ही हमें इस भ्रम में भी नहीं पड़ना चाहिए कि शूकर जैसे पशु के हृदय में स्थित परमात्मा तथा एक विद्वान् ब्राह्मण के हृदय में स्थित परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं। सभी जीवों में स्थित परमात्मा एक ही परमेश्वर है। अपनी सर्वशक्तिमत्ता से भगवान् कहीं भी रह सकता है और कहीं भी वैकुण्ठलोक जैसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है। यही उनकी अचिन्त्य शक्ति है। अतः जब नारायण एक शूकर के हृदय में वास करता है, तो वह शूकर-नारायण नहीं बन जाता। वह शूकर की देह से अप्रभावित रहकर सदैव नारायण बना रहता है।

जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे ।

ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः ॥ २८ ॥

#### शब्दार्थ

जीवाः—जीव; श्रेष्ठाः—अधिक अच्छे; हि—निस्सन्देह; अजीवानाम्—अचेतन पदार्थों से; ततः—उनकी अपेक्षा; प्राण-भृतः—जीवन के लक्षणों से युक्त जीव; शुभे—हे कल्याणी माता; ततः—उनकी अपेक्षा; स-चित्ताः—विकसित चेतना से युक्त जीव; प्रवराः—श्रेष्ठ; ततः—उनसे; च—तथा; इन्द्रिय-वृत्तयः—अनुभूति से युक्त।

हे कल्याणी माँ, जीवात्माएँ अचेतन पदार्थों से श्रेष्ठ हैं और इनमें से जो जीवन के लक्षणों से युक्त हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इनकी अपेक्षा विकसित चेतना वाले पशु श्रेष्ठ हैं और इनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जिनमें इन्द्रिय अनुभूति विकसित हो चुकी है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि जीव का सम्मान दान तथा मैत्री भाव से होना चाहिए। इस श्लोक में तथा अगले श्लोकों में विभिन्न कोटि के जीवों का वर्णन किया गया है, जिससे लोग जान सकें कि कब दान देना चाहिए और कब मित्रता का व्यवहार करना चाहिए। उदाहरणार्थ, शेर एक जीव है, भगवान् का अंश है और परमेश्वर इसके हृदय में परमात्मा रूप में निवास करते हैं। किन्तु क्या इसका अर्थ यह होता है कि हम शेर से मित्रता का व्यवहार करें? कदापि नहीं। हमें उसके साथ भिन्न प्रकार से व्यवहार करना होगा, हमें



प्रसाद के रूप में दान देना होगा। जंगल में रहने वाले अनेक सन्तजन शेरों के साथ मैत्रीभाव नहीं बरतते, किन्तु वे उन्हें प्रसाद देते हैं। शेर आते हैं, प्रसाद लेते हैं और चले जाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कुत्ते करते हैं। वैदिक प्रथा के अनुसार कुत्ते को घर के भीतर नहीं जाने देते। अपनी गन्दगी के कारण कुत्तों तथा बिल्लियों को भले घरों में घुसने नहीं दिया जाता, किन्तु उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाती है कि वे घर के बाहर खड़े रहें। दयालु गृहस्वामी घर से प्रसाद लाकर इन्हें देता है, वे खाते हैं और चले जाते हैं। हमें निम्न जीवों के प्रति सदयता का व्यवहार करना चाहिए, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि हम उनके साथ उसी तरह व्यवहार करें जैसा अन्य मनुष्यों के साथ करते हैं। समता का भाव तो रहना चाहिए किन्तु यह व्यवहार करने में भेद होना चाहिए। हमारा भेदभाव किस प्रकार का हो इसका उल्लेख अगले छह श्लोकों में दिया गया है।

पहला वर्गीकरण पत्थर जैसे निर्जीव एवं सजीव प्राणी में किया जाता है। कभी-कभी पत्थर में भी मानो जीवन प्रकट हो जाता है। अनुभव से यह ज्ञात है कि कुछ पहाड़ियाँ तथा पर्वत वृद्धि करते हैं। इसका कारण पत्थर के भीतर आत्मा की उपस्थिति है। जीवित अवस्था का दूसरा लक्षण है चेतना का विकास और इससे भी आगे अनुभूति का विकास। *महाभारत* के 'मोक्षधर्म पर्व' में यह बताया गया है कि वृक्षों में अनुभूति होती है—वे देख तथा सूँघ सकते हैं। हमें अनुभव है कि वृक्ष देख सकते हैं। कभी-कभी विशाल वृक्ष अपनी वृद्धि के दौरान व्यवधानों से बचने के लिए अपनी वृद्धि की दिशा बदल देते हैं। इसका अर्थ हुआ कि वृक्ष देख सकता है और *महाभारत* के अनुसार तो वृक्ष सूँघ भी सकता है। इससे अनुभूति का विकास संकेत मिलता है।

तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः ।

तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः ॥ २९ ॥

#### शब्दार्थ

तत्र—उनमें से; अपि—इसके अतिरिक्त; स्पर्श-वेदिभ्यः—स्पर्श का अनुभव करने वालों से; प्रवराः—श्रेष्ठ; रस-वेदिनः—स्वाद का अनुभव करने वाले; तेभ्यः—उनसे; गन्ध-विदः—गन्ध अनुभव करने वाले; श्रेष्ठाः—श्रेष्ठ; ततः—उनसे भी; शब्द-विदः—ध्वनि का अनुभव करने वाले; वराः—श्रेष्ठ।

इन्द्रियवृत्ति ( अनुभूति ) से युक्त जीवों में से जिन्होंने स्वाद की अनुभूति विकसित कर ली है वे स्पर्श अनुभूति विकसित किये हुए जीवों से श्रेष्ठ हैं। इनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जिन्होंने गंध की अनुभूति विकसित कर ली है और इनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जिनकी श्रवणेन्द्रिय विकसित है।

तात्पर्य : यद्यपि पाश्चात्य विद्वान मानते हैं कि विकासवाद की स्थापना सर्वप्रथम डार्विन द्वारा हुई, किन्तु नृतत्व विज्ञान कोई नया नहीं है। विकास-प्रक्रिया आज से ५,००० वर्ष पूर्व लिखे गये *भागवत* के पहले से ज्ञात थी। कपिल मुनि के वचन प्रमाण हैं। जो सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान थे। यह ज्ञान वैदिक काल से चला आ रहा है और सारा विकास क्रम वैदिक साहित्य में प्राप्त है; क्रमिक विकास का सिद्धान्त या नृतत्व विज्ञानविदों के लिए नया नहीं है।

यहाँ यह कहा गया है कि वृक्षों में भी विकास-प्रक्रिया होती है, विभिन्न प्रकार के वृक्षों में स्पर्श का अनुभव पाया जाता है। यह कहा गया है कि वृक्षों की अपेक्षा मछलियाँ श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनमें स्वादेन्द्रिय विकसित है। मछलियों से श्रेष्ठ मधुमक्खियाँ हैं, जिनमें घ्राणशक्ति विकसित है और इनसे भी श्रेष्ठ सर्प है जिनमें सुनने की शक्ति विकसित है। रात्रि के अंधकार में सर्प मेंढक की लुभावनी ध्वनि सुनकर अपना भोज्य प्राप्त कर सकता है। साँप समझ सकता है कि, “वहाँ पर मेंढक है” और केवल उसकी ध्वनि से वह उसे पकड़ लेता है। यह उदाहरण कभी-कभी उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है, जो मृत्यु के लिए शब्दोच्चार करते हैं। मनुष्य के मेंढक जैसी जीभ हो सकती है, जो शब्द उत्पन्न कर सकती है, किन्तु ऐसी ध्वनि तो मृत्यु का आवाहन बनती है। जीभ तथा ध्वनि का सर्वोत्तम उपयोग यही है कि हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे महामन्त्र का कीर्तन किया जाय। इससे क्रूर काल के हाथों से रक्षा हो सकेगी।

रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः ।

तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

रूप-भेद—रूप में अन्तर; विदः—जानने वाले; तत्र—उनकी अपेक्षा; ततः—उससे; च—तथा; उभयतः—दोनों जबड़ों में; दतः—दाँतों से युक्त; तेषाम्—उनमें से; बहु-पदाः—अनेक पाँवों वाले; श्रेष्ठाः—श्रेष्ठ; चतुः-पादः—चौपाया; ततः—उससे; द्वि-पात्—दो पाँव वाले।

ध्वनि सुन सकने वाले प्राणियों की अपेक्षा वे श्रेष्ठ हैं, जो एक रूप तथा दूसरे रूप में अन्तर जान लेते हैं। इनसे भी अच्छे वे हैं जिनके ऊपरी तथा निचले दाँत होते हैं और इनसे भी श्रेष्ठ अनेक पाँव वाले जीव हैं। इनसे भी श्रेष्ठ चौपाये और चौपाये से भी बढ़कर मनुष्य हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि कौवे जैसे कुछ पक्षी एक-दूसरे रूप में अन्तर कर सकते हैं। बरें जैसे जीव जिनके पैर होते हैं, वे बिना पैर वाले वृक्षों तथा वनस्पतियों से श्रेष्ठ हैं। चार पैर वाले पशु अनेक पैर वाले जीवों से श्रेष्ठ हैं। पशुओं से भी श्रेष्ठ मनुष्य हैं, क्योंकि उसके केवल दो पैर होते हैं।

ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः ।

ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः ॥ ३१ ॥

#### शब्दार्थ

ततः—उनमें से; वर्णाः—वर्ग; च—तथा; चत्वारः—चार; तेषाम्—उनमें से; ब्राह्मणः—ब्राह्मण; उत्तमः—सर्वश्रेष्ठ; ब्राह्मणेषु—ब्राह्मणों में से; अपि—भी; वेद—वेदों का; ज्ञः—जानने वाला; हि—निश्चय ही; अर्थ—प्रयोजन; ज्ञः—जानने वाला; अभ्यधिकः—श्रेष्ठ; ततः—उससे।

मनुष्यों में वह समाज सर्वोत्तम है, जो गुण तथा कर्म के अनुसार विभाजित किया गया है और जिस समाज में बुद्धिमान जनों को ब्राह्मण पद दिया जाता है, वह सर्वोत्तम समाज है। ब्राह्मणों में से जिसने वेदों का अध्ययन किया है, वही सर्वोत्तम है और वेदज्ञ ब्राह्मणों में भी वेद के वास्तविक तात्पर्य को जानने वाला सर्वोत्तम है।

तात्पर्य : गुण तथा कर्म के अनुसार मानव समाज का चार भागों में वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक है। अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र प्रणाली भारत में वर्तमान जाति प्रथा के कारण दूषित हो चुकी है। किन्तु ऐसा लगता है कि यह प्रणाली दीर्घकाल से चली आ रही है, क्योंकि इसका उल्लेख श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता में हुआ है। जब तक मानव समाज में बुद्धिमान वर्ग, योद्धा वर्ग, व्यापारी वर्ग तथा श्रमिक वर्ग के रूप में सामाजिक विभाजन नहीं

होगा जब तक सदैव ऊहापोह बना रहेगा कि कौन किस उद्देश्य से कर्म कर रहा है। जो व्यक्ति परम सत्य को समझ सके वह ब्राह्मण है और जब ऐसा ब्राह्मण वेदज्ञ होता है, तो वह वेदों का प्रयोजन समझ सकता है। वेदों का प्रयोजन पूर्ण ब्रह्म को समझना है। जो व्यक्ति परम सत्य को तीन अवस्थाओं में—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में समझता है और जो भगवान् का अर्थ समझता है, वह ब्राह्मणों में श्रेष्ठ अथवा वैष्णव माना जाता है।

अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान्स्वकर्मकृत् ।

मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः ॥ ३२ ॥

#### शब्दार्थ

अर्थ-ज्ञात्—वेदों का तात्पर्य समझने वाले की अपेक्षा; संशय—सन्देह; छेत्ता—छिन्न करने वाला; ततः—उसकी उपेक्षा; श्रेयान्—श्रेष्ठ; स्व-कर्म—अपने निर्धारित कार्य; कृत्—करने वाला; मुक्त-सङ्गः—भौतिक संगति से मुक्त; ततः—उससे; भूयान्—श्रेष्ठ; अदोग्धा—न करने वाला; धर्मम्—भक्ति; आत्मनः—अपने लिए।

वेदों का तात्पर्य समझने वाले ब्राह्मण की अपेक्षा वह मनुष्य श्रेष्ठ है, जो सारे संशयों का निवारण कर दे और उससे भी श्रेष्ठ वह है, जो ब्राह्मण-नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करता है। उससे भी श्रेष्ठ है समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त व्यक्ति। इससे भी श्रेष्ठ वह शुद्ध भक्त है, जो निष्काम भाव से भक्ति करता है।

तात्पर्य : अर्थज्ञ ब्राह्मण उस व्यक्ति का सूचक है, जिसने परम सत्य का सम्यक् विश्लेषणात्मक अध्ययन किया हो और जो यह जानता हो कि परम सत्य का अनुभव तीन भिन्न अवस्थाओं में—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में किया जाता है। यदि किसी के पास इस ज्ञान के अतिरिक्त परम सत्य के विषय में उठाए जाने वाले संशयों को दूर करने की क्षमता हो तो वह श्रेष्ठ माना जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि विद्वान ब्राह्मण-वैष्णव समस्त संशयों को दूर कर दे, किन्तु यदि वह वैष्णव नियमों को नहीं मानता तो वह उच्च पद पर आसीन नहीं रहता। उसे समस्त संशयों को दूर करने तथा साथ ही समस्त ब्राह्मण-लक्षणों से युक्त होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति, जो वैदिक आदेशों के प्रयोजन को जानता है, जो वेदों द्वारा अनुमोदित नियमों को व्यवहार में लाता है और अपने शिष्यों को इसी विधि से शिक्षा देता है, वह आचार्य कहलाता है। आचार्य का पद ऐसा है कि वह भक्ति करता है, किन्तु जीवन में

उच्चपद प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं रखता।

वैष्णव सर्वोच्च सिद्धिप्राप्त ब्राह्मण होता है। जो वैष्णव ब्रह्मविज्ञान को जानता है, किन्तु अन्य को इस ज्ञान का उपदेश नहीं कर पाता वह निम्न अवस्था में माना जाता है। जो न केवल ब्रह्मविज्ञान को जानता है, अपितु अन्यो को उपदेश देता है, वह द्वितीय अवस्था में रहता है और जो न केवल उपदेश देता है वरन् हर वस्तु को परम सत्य में और परम सत्य को हर वस्तु में देखता है, वह सर्वोच्च श्रेणी का वैष्णव है। यहाँ उल्लेख हुआ है कि वैष्णव पहले से ब्राह्मण रहता है, निस्सन्देह वैष्णव होने पर ही ब्राह्मण की पूर्ण अवस्था प्राप्त होती है।

तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः

मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि सन्न्यस्तकर्मणः ।

न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥ ३३ ॥

#### शब्दार्थ

तस्मात्—उसकी अपेक्षा; मयि—मुझको; अर्पित—भेंट किया गया; अशेष—समस्त; क्रिया—कर्म; अर्थ—सम्पत्ति; आत्मा—जीवन, आत्मा; निरन्तरः—बिना रुके; मयि—मुझको; अर्पित—अर्पित; आत्मनः—जिसका मन; पुंसः—मनुष्य की अपेक्षा; मयि—मुझको; सन्न्यस्त—अर्पित; कर्मणः—जिसके कर्म; न—नहीं; पश्यामि—देखता हूँ; परम्—महानतम्; भूतम्—जीव को; अकर्तुः—स्वामित्व के बिना; सम—सम, वही; दर्शनात्—जिसकी दृष्टि।

अतः मुझे उस व्यक्ति से बड़ा कोई नहीं दिखता जो मेरे अतिरिक्त कोई अन्य रुचि नहीं रखता, जो अनवरत मुझे ही अपने समस्त कर्म तथा अपना सारा जीवन—सब कुछ अर्पित करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सम-दर्शनात्* का अर्थ है कि उसका कोई पृथक् स्वार्थ नहीं होता। भक्त तथा भगवान् के स्वार्थ एक-से हैं। उदाहरणार्थ, भक्त रूप में भगवान् चैतन्य ने भी इसी दर्शन का उपदेश दिया कि कृष्ण ही पूज्य भगवान् हैं और उनके शुद्ध भक्तों का स्वार्थ (रुचि) उनका निजी स्वार्थ है।

कभी-कभी मायावादी चिन्तक अपने अल्पज्ञान के कारण *सम-दर्शनात्* शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि भक्त को भगवान् तथा अपने आपको एक करके देखना चाहिए। यदि कोई अपने को भगवान् मान ले तो फिर उनकी सेवा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब सेवा है, तो स्वामी(सेव्य) भी होना चाहिए। सेवा के लिए तीन बातें होनी चाहिए—स्वामी (सेव्य),

सेवक तथा सेवा। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि जिसने भगवान् को सन्तुष्ट करने के लिए अपना जीवन, अपने कर्म, मन तथा आत्मा—सब कुछ अर्पित कर दिये हों उसे महापुरुष समझना चाहिए।

*अकर्तुः* शब्द का अर्थ है “किसी प्रकार के स्वामित्व-भाव के बिना”। हर व्यक्ति अपने कर्मों का स्वामी (कर्ता) बनना चाहता है, जिससे वह फल भोग सके। किन्तु भक्त को ऐसी इच्छा नहीं रहती, वह कर्म करता है, क्योंकि भगवान् उससे विशेष प्रकार से कर्म कराना चाहता है। उसका कोई निजी मन्तव्य नहीं रहता। जब भगवान् चैतन्य भक्ति का उपदेश देते थे, तो उनका मन्तव्य यह नहीं था कि लोग उन्हें भगवान् कृष्ण मानें; अपितु उन्होंने उपदेश दिया कि कृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनकी इसी रूप में पूजा होनी चाहिए। जो भक्त भगवान् का अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक होता है, वह अपने लिए कुछ नहीं चाहता, भगवान् की तुष्टि के लिए ही सब कुछ करता है। अतः यह स्पष्ट कहा गया है—*मयि संन्यस्तकर्मणः*—भक्त कर्म करता है, किन्तु भगवान् के लिए करता है। यह भी कहा गया है—*मय्यर्पितात्मनः*—“वह मुझे अपना मन अर्पित करता है।” ये सब भक्त के गुण हैं और इस श्लोक के अनुसार वह मनुष्यों में सर्वोपरि माना जाता है।

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन् ।

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥ ३४ ॥

#### शब्दार्थ

मनसा—मन से; एतानि—इन; भूतानि—जीवों को; प्रणमेत्—प्रणाम करे; बहु-मानयन्—आदर प्रदर्शित करते हुए; ईश्वरः—नियामक; जीव—जीवों का; कलया—परमात्मा के रूप में अपने अंश से; प्रविष्टः—प्रवेश किया है; भगवान्—श्रीभगवान्; इति—इस प्रकार।

ऐसा पूर्ण भक्त प्रत्येक जीव को प्रणाम करता है, क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास है कि भगवान् प्रत्येक जीव के शरीर के भीतर परमात्मा या नियामक के रूप में प्रविष्ट रहते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, पूर्ण भक्त भूलकर भी कभी यह नहीं सोचता कि चूँकि प्रत्येक जीव के शरीर के भीतर परमात्मा रूप में भगवान् प्रविष्ट हैं, अतः हर जीव भगवान् हो गया है। यह मूर्खता है। मान लो कि कोई व्यक्ति कमरे में प्रविष्ट हुआ है, इसका

अर्थ यह नहीं होता कि वह कमरा वह व्यक्ति बन गया। इसी प्रकार परमेश्वर समस्त ८४,००,००० योनियों के शरीर में प्रविष्ट हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि इनमें से प्रत्येक शरीर भगवान् हो गया है। किन्तु चूँकि परमेश्वर उपस्थित है, अतः शुद्ध भक्त प्रत्येक शरीर को भगवान् का मन्दिर मान लेता है और चूँकि भक्त ऐसे हर मन्दिर को पूर्ण चेतना में रहकर प्रणाम करता है, अतः वह प्रत्येक जीव को भगवान् के परिप्रेक्ष्य में प्रणाम करता है। मायावादी चिन्तकों का यह सोचना गलत है कि निर्धन व्यक्ति (दरिद्र) के शरीर में प्रविष्ट रहने के कारण भगवान् दरिद्र-नारायण हो गये। ये नास्तिकों तथा अभक्तों के निन्दनीय वक्तव्य हैं।

**भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः ।**

**ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं ब्रजेत् ॥ ३५ ॥**

**शब्दार्थ**

भक्ति-योगः—भक्ति; च—तथा; योगः—योग; च—तथा; मया—मेरे द्वारा; मानवि—हे मनुपुत्री; उदीरितः—वर्णित; ययोः—जिस दो का; एकतरेण—किसी एक से; एव—अकेला; पुरुषः—पुरुष; पुरुषम्—परम पुरुष को; ब्रजेत्—प्राप्त कर सकता है।

हे माता, हे मनुपुत्री, जो भक्त इस प्रकार से भक्ति तथा योग का साधन करता है उसे केवल भक्ति से ही परम पुरुष का धाम प्राप्त हो सकता है।

**तात्पर्य :** यहाँ पर भगवान् कपिलदेव ने ठीक-ठीक बताया है कि 'अष्टाङ्ग योग' इस उद्देश्य से सम्पन्न किया जाता है, जिससे भक्तियोग की पूर्ण अवस्था प्राप्त हो सके। मनुष्य को केवल आसन लगाने का अभ्यास करके तथा अपने को पूर्ण समझ कर सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। ध्यान के द्वारा उसे भक्तियोग की अवस्था प्राप्त करनी चाहिए। जैसाकि पहले कहा जा चुका है योगी को चरणतल से पाँवों, घुटनों, जाँघों से होते हुए वक्षस्थल और गले तक भगवान् विष्णु के रूप का ध्यान करना चाहिए और धीरे-धीरे उठते हुए उनके मुखमण्डल तथा आभूषणों तक पहुँचना चाहिए। निराकार में ध्यान का कोई प्रश्न नहीं रहता।

जब भगवान् के इस प्रकार विस्तृत ध्यान के बाद भगवत्प्रेम की बारी आती है, तो यही स्तर भक्तियोग का है और इस स्तर पर उसे दिव्य प्रेमवश भगवान् की वास्तविक सेवा करनी चाहिए। जो कोई योग का अभ्यास करके भक्तियोग तक पहुँचता है, वह भगवान् को उनके

दिव्य धाम में प्राप्त करता है। यहाँ पर स्पष्ट रूप से कहा गया है, *पुरुषः पुरुषं व्रजेत्*—जीव परम पुरुष के पास जाता है। गुणात्मक दृष्टि से जीव तथा भगवान् एक हैं, दोनों ही पुरुष कहलाते हैं। जीव तथा भगवान् दोनों में पुरुष के गुण होते हैं। *पुरुष* का अर्थ है 'भोक्ता' और भोग की भावना जीव तथा परमेश्वर दोनों में पाई जाती है। अन्तर इतना है कि दोनों में भोग की मात्रा बराबर नहीं होती। जीव भगवान् के तुल्य आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता। यहाँ एक निर्धन तथा एक धनी व्यक्ति का दृष्टान्त लिया जा सकता है—दोनों में भोग की इच्छा उपस्थित है, किन्तु जब निर्धन व्यक्ति अपनी इच्छाओं को धनी व्यक्ति के साथ जोड़ देता है और जब धनी तथा निर्धन व्यक्ति में परस्पर सहयोग होता है, तो भोग समान रूप से भोगा जाता है। यह भक्तियोग जैसा है। *पुरुषः पुरुषं व्रजेत्*—जब जीव भगवान् के धाम में प्रवेश करता है और उनको आनन्द प्रदान करते हुए उन्हें सहयोग पहुँचाता है, तो उसे उतना ही आनन्द या वही सुविधा प्राप्त होती है, जो भगवान् को होती है।

इसके विपरीत जब वह भगवान् की नकल करके भोग करना चाहता है, तो उसकी इच्छा माया कहलाती है और यह उसे भौतिक जगत में ला देती है। जो जीव अपने लिए ही भोग करना चाहता है और ईश्वर को कोई सहयोग नहीं देता वह भौतिकतावादी जीवन में लगा होता है। किन्तु ज्योंही वह अपना भोग पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ जोड़ देता है कि वह आध्यात्मिक जीवन बिताने लगता है। यहाँ पर एक उदाहरण दिया जा सकता है—शरीर के विभिन्न अंग स्वतन्त्र रूप से जीवन का आनन्द नहीं उठा सकते। उन्हें पूर्ण शरीर के साथ सहयोग करना चाहिए तथा पेट को भोजन देना चाहिए। ऐसा करने पर शरीर के भिन्न-भिन्न अंग सारे शरीर के सहयोग से समान रूप से भोग करते हैं। 'अचिन्त्य भेदाभेद' का यही दर्शन है—अर्थात् एकसाथ एकत्व तथा अन्तर। ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध जीव जीवन का आनन्द नहीं भोग सकता। उसे भक्तियोग के अभ्यास द्वारा अपने सारे कार्यकलाप भगवान् के साथ-साथ करने होंगे।

यहाँ यह कहा गया है कि या तो योगविधि से या भक्तियोग के द्वारा भगवान् तक पहुँचा



जा सकता है। यह संकेत करता है कि यथार्थ में योग तथा भक्तियोग में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों का लक्ष्य विष्णु है। किन्तु आधुनिक युग में एक नवीन योगपद्धति निर्मित की गई है, जो शून्य तथा निराकार को लक्ष्य बनाती है। वस्तुतः योग का अर्थ है विष्णु के स्वरूप का ध्यान। यदि प्रामाणिक निर्देश के अनुसार योगाभ्यास किया जाय तो योग तथा भक्तियोग में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः ।

परं प्रधानं पुरुषं दैवं कर्मविचेष्टितम् ॥ ३६ ॥

### शब्दार्थ

एतत्—यह; भगवतः—भगवान् का; रूपम्—रूप; ब्रह्मणः—ब्रह्म का; परम-आत्मनः—परमात्मा का; परम्—दिव्य; प्रधानम्—प्रधान; पुरुषम्—पुरुष; दैवम्—दैवी, आध्यात्मिक; कर्म-विचेष्टितम्—जिनके कार्यकलाप।

वह पुरुष जिस तक प्रत्येक जीव को पहुँचना है, उस भगवान् का शाश्वत रूप है, जो ब्रह्म तथा परमात्मा कहलाता है। वह प्रधान दिव्य पुरुष है और उसके कार्यकलाप अध्यात्मिक हैं।

तात्पर्य : जिस पुरुष तक जीव को पहुँचना है उसे विभेदित करने के लिए समस्त जीवों में प्रमुख कहा गया है और यह निराकार ब्रह्मतेज तथा परमात्मा का अन्तिम स्वरूप है। चूँकि वह ब्रह्मतेज तथा परमात्मा का उत्पत्ति स्थान है इसलिए उसे मुख्य पुरुष कहा गया है। *कठोपनिषद्* में पुष्टि की गई है—*नित्यो नित्यानाम्*—शाश्वत जीव तो अनेक हैं, किन्तु वह मुख्य पालक है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता में भी हुई है, जहाँ भगवान् कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—“मैं हर वस्तु का मूल हूँ जिसमें ब्रह्मतेज तथा परमात्मा सम्मिलित है।” उनके कार्यकलाप दिव्य हैं, जैसी कि भगवद्गीता से पुष्टि हुई है—*जन्म कर्म च मे दिव्यम्*—भगवान् के कार्यकलाप तथा उनका प्राकट्य एवं तिरोधान सभी दिव्य हैं। इन्हें भौतिक नहीं मानना चाहिए। जो कोई इस तथ्य को समझता है कि उनके कार्यकलाप, प्राकट्य तथा तिरोधान सारे भौतिक कार्यों या भौतिक अनुभूति से परे हैं वह मुक्त हो जाता है। *यो वेत्ति तत्त्वतः; त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म*—ऐसा व्यक्ति, अपना शरीर त्यागने पर पुनः इस संसार में नहीं आता, अपितु परम पुरुष के पास चला

जाता है। यहाँ पर इसी की पुष्टि है— पुरुषः पुरुषं ब्रजेत्—भगवान् की दिव्य प्रकृति तथा उनके कार्यकलापों को समझ लेने से ही जीव भगवान् के पास आता है।

रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते ।

भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम् ॥ ३७ ॥

#### शब्दार्थ

रूप-भेद—रूपों के परिवर्तन का; आस्पदम्—कारण; दिव्यम्—दिव्य; कालः—काल, समय; इति—इस प्रकार; अभिधीयते—जाना जाता है; भूतानाम्—जीवों का; महत्-आदीनाम्—ब्रह्मा आदि; यतः—जिससे; भिन्न-दृशाम्—पृथक् दृष्टिकोण से; भयम्—डर।

विभिन्न भौतिक रूपान्तरों को उत्पन्न करने वाला काल भगवान् का ही एक अन्य स्वरूप है। जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि काल तथा भगवान् एक ही हैं वह काल से भयभीत रहता है।

तात्पर्य : हर कोई काल की गतिविधियों से भयभीत रहता है, किन्तु जो यह जानता है कि काल भगवान् का दूसरा स्वरूप है उसे काल-प्रभाव से तनिक भी भय नहीं होता। रूपभेदास्पदम् पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। काल के प्रभाव से न जाने कितने स्वरूप बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ, जब बच्चा पैदा होता है, तो उसका रूप छोटा होता है, किन्तु कालक्रम से वही रूप बड़े रूप में बदल जाता है—पहले एक बालक के शरीर में और फिर तरुण पुरुष के शरीर में बदल जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु काल द्वारा या भगवान् के अप्रत्यक्ष नियंत्रण द्वारा बदलती रहती है। सामान्यतया हमें एक शिशु, एक बालक या एक तरुण पुरुष के शरीर में अन्तर नहीं दिखता, क्योंकि हमें पता है कि यह काल का प्रभाव है। जो व्यक्ति यह न जानता हो कि काल किस प्रकार क्रिया करता है उसके लिए काल भय का कारण है।

योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्यखिलाश्रयः ।

स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः ॥ ३८ ॥

#### शब्दार्थ

यः—जो; अन्तः—भीतर; प्रविश्य—घुसकर; भूतानि—जीवों को; भूतैः—जीवों के द्वारा; अन्ति—संहार करता है; अखिल—हर एक का; आश्रयः—आधार; सः—वह; विष्णु—विष्णु; आख्यः—नामक; अधियज्ञः—समस्त यज्ञों का भोक्ता; असौ—वह; कालः—काल; कलयताम्—समस्त स्वामियों का; प्रभुः—स्वामी।

समस्त यज्ञों के भोक्ता भगवान् विष्णु कालस्वरूप हैं तथा समस्त स्वामियों के स्वामी हैं। वे प्रत्येक के हृदय में प्रविष्ट करने वाले हैं, वे सबके आश्रय हैं और प्रत्येक जीव का दूसरे जीव के द्वारा संहार कराने का कारण हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् विष्णु का स्पष्ट वर्णन हुआ है। वे परम भोक्ता हैं और अन्य सभी उनके दास रूप में कार्य कर रहे हैं। जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (आदि ५.१४) में कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण*—विष्णु एकमात्र ईश्वर हैं, *आर सब भृत्य*—अन्य सब उनके दास हैं। ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता हैं। यही विष्णु प्रत्येक के हृदय में परमात्मा रूप में प्रवेश करते हैं और दूसरे जीव के द्वारा जीव का संहार करते हैं।

न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः ।  
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत् ॥ ३९ ॥

#### शब्दार्थ

न—नहीं; च—तथा; अस्य—भगवान् का; कश्चित्—कोई; दयितः—प्रिय; न—नहीं; द्वेष्यः—शत्रु; न—नहीं; च—तथा; बान्धवः—मित्र; आविशति—निकट जाता है; अप्रमत्तः—सजग; असौ—वह; प्रमत्तम्—असावधान; जनम्—व्यक्ति को; अन्त-कृत्—विनाशकर्ता।

भगवान् का न तो कोई प्रिय है, न ही कोई शत्रु या मित्र है। किन्तु जो उन्हें भूले नहीं हैं, उन्हें वे प्रेरणा प्रदान करते हैं और जो उन्हें भूल चुके हैं उनका क्षय करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु के साथ अपने उस सम्बन्ध को भूलना (विस्मृति) ही मनुष्य के जन्म-मृत्यु के चक्र का कारण है। जीव उतना ही सनातन है जितना कि परमेश्वर है, किन्तु जीव अपनी विस्मृति के कारण इस प्रकृति में आता है और एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता है। जब शरीर नष्ट हो जाता है, तो वह सोचता है कि उसका भी नाश हो गया। वास्तव में भगवान् विष्णु के साथ अपने सम्बन्ध की यह विस्मृति ही उसके विनाश का कारण है। जो व्यक्ति मूल सम्बन्ध की स्मृति सजग रखता है, वह भगवान् से प्रेरणा प्राप्त करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान् किसी का शत्रु है और किसी का मित्र है। वह सबों की सहायता करता है और जो भौतिक शक्ति (माया) के प्रभाव से मोहित नहीं होता वह बच जाता है और जो मोहग्रस्त हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है। इसीलिए कहा गया है—*हरिं विना न मृतिं*

तरन्ति—परमेश्वर की सहायता के बिना कोई जन्म-मृत्यु के चक्र से बच नहीं सकता। इसलिए सभी जीवों का धर्म है कि वे विष्णु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करें और अपने को जन्म-मरण के चक्र से बचा लें।

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात् ।

यद्भयाद्धर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात् ॥ ४० ॥

#### शब्दार्थ

यत्—जिस ( परमेश्वर ) के; भयात्—भय से; वाति—बहती है; वातः—वायु; अयम्—यह; सूर्यः—सूर्य; तपति—चमकता है; यत्—जिसके; भयात्—भय से; यत्—जिसके; भयात्—भय से; वर्षते—वर्षा करता है; देवः—वर्षा का देवता; भ-गणः—नक्षत्रों का समूह; भाति—चमकता है; यत्—जिसके; भयात्—भय से।

भगवान् के ही भय से वायु बहती है, उन्हीं के भय से सूर्य चमकता है, वर्षा का देवता पानी बरसाता है और उन्हीं के भय से नक्षत्रों का समूह चमकता है।

तात्पर्य : भगवद्गीता में भगवान् का वचन है—मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते—“प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है।” मूर्ख व्यक्ति सोचता है कि प्रकृति स्वतः कार्यशील है, किन्तु वैदिक साहित्य द्वारा ऐसे अनीश्वरवादी सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती। प्रकृति परमेश्वर की अध्यक्षता में कार्य कर रही है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता में हुई है और यहाँ पर भी हम देखते हैं कि भगवान् के ही निर्देशन में सूर्य चमकता है और बादल पानी बरसाता है। सारी प्राकृतिक घटनाएँ भगवान् विष्णु की अध्यक्षता में घटित होती हैं।

यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह ।

स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च ॥ ४१ ॥

#### शब्दार्थ

यत्—जिसके कारण; वनः-पतयः—वृक्ष; भीताः—भयभीत; लताः—लताएँ; च—तथा; औषधिभिः—जड़ी-बूटियाँ; सह—साथ; स्वे स्वे काले—अपनी-अपनी ऋतु में; अभिगृह्णन्ति—धारण करते हैं; पुष्पाणि—फूल; च—तथा; फलानि—फल; च—भी।

भगवान् के भय से वृक्ष, लताएँ, जड़ी-बूटियाँ तथा मौसमी पौधे और फूल अपनी-अपनी ऋतु में फूलते और फलते हैं।

तात्पर्य : जिस प्रकार भगवान् की अध्यक्षता में सूर्य का उदय-अस्त होता है और निर्धारित

समय से ऋतु-परिवर्तन होता रहता है, उसी तरह सामयिक पौधे, फूल, औषधियाँ तथा वृक्ष भी भगवान् के आदेश से बढ़ते हैं। ऐसा नहीं है कि पौधे अकारण ही और स्वतः बढ़ते हों जैसाकि नास्तिक कहते हैं, अपितु वे भगवान् के परम आदेशानुसार बढ़ते हैं। वैदिक साहित्य से पुष्टि होती है कि भगवान् की शक्तियाँ इतने सुचारु रूप से काम करती हैं कि ऐसा लगता है जैसे सब कुछ स्वतः हो रहा हो।

स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः ।

अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात् ॥ ४२ ॥

#### शब्दार्थ

स्रवन्ति—बहती हैं; सरितः—नदियाँ; भीताः—डरी हुई; न—नहीं; उत्सर्पति—उमड़ कर बहते हैं; उद-धिः—सागर; यतः—जिसके कारण; अग्निः—अग्नि; इन्धे—जलती है; स-गिरिभिः—पर्वतों सहित; भूः—पृथ्वी; न—नहीं; मज्जति—डूबती है; यत्—जिसके; भयात्—भय से।

भगवान् के भय से नदियाँ बहती हैं तथा सागर कभी भरकर बाहर नहीं बहते। उनके ही भय से अग्नि जलती है और पृथ्वी अपने पर्वतों सहित ब्रह्माण्ड के जल में डूबती नहीं।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य से हम जान सकते हैं कि इस ब्रह्माण्ड का आधा भाग जल से भरा हुआ है, जिसमें गर्भोदकशायी विष्णु शयन करते हैं। उनके उदर से एक कमल का फूल निकलता है और इस फूल के डंठल पर सारे लोक स्थित हैं। भौतिकतावादी विज्ञानी कहता है कि ये सारे लोक गुरुत्वाकर्षण के नियम या अन्य नियम के कारण तैर रहे हैं, किन्तु वास्तविक विधायक श्रीभगवान् हैं। जब हम नियम की बात करते हैं, तो हमें यह भी समझना चाहिए कि नियम बनाने वाला (विधायक) भी कोई-न-कोई होगा। भौतिक विज्ञानी प्रकृति के नियमों को खोज तो सकते हैं, किन्तु वे नियामक (विधायक) को पहचान नहीं पाते। श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता से हम जान सकते हैं कि नियम बनाने वाला कौन है : नियम बनानेवाला पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् है।

यह कहा गया है कि सारे लोक कभी डूबते नहीं, क्योंकि वे भगवान् के आदेश से या उनकी शक्ति से तैर रहे हैं, अतः वे ब्रह्माण्ड का आधा भाग घेरने वाले जल में डूबते नहीं। सारे

लोक अपने-अपने पर्वतों, समुद्रों, महासागरों, नगरों, महलों आदि के कारण भारी हैं फिर भी तैरते रहते हैं। इस श्लोक से यह समझ में आता है कि वायु में तैरने वाले अन्य समस्त लोकों में इसी लोक की भाँति सागर तथा पर्वत हैं।

नभो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः ।

लोकं स्वदेहं तनुते महान्सप्तभिरावृतम् ॥ ४३ ॥

#### शब्दार्थ

नभः—आकाश; ददाति—देता है; श्वसताम्—जीवों को; पदम्—आवास; यत्—जिस ( भगवान् ) के; नियमात्—नियन्त्रण में; अदः—वह; लोकम्—ब्रह्माण्ड को; स्व-देहम्—अपने शरीर को; तनुते—विस्तार करता है; महान्—महत् तत्त्व; सप्तभिः—सात ( कोशों ) सहित; आवृतम्—आच्छादित।

भगवान् के ही नियन्त्रण में अन्तरिक्ष में आकाश सारे लोकों को स्थान देता है जिनमें असंख्य जीव रहते हैं। उन्हीं के नियन्त्रण में ही सकल विराट शरीर अपने सातों कोशों सहित विस्तार करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि बाह्य अन्तरिक्ष में सारे लोक तैर रहे हैं और उन सबों में जीव हैं। श्वसताम् का अर्थ है “जो श्वास लेते हैं” अर्थात् जीवित प्राणी। इन सबको धारण करने के लिए असंख्य लोक हैं। प्रत्येक लोक में अगणित जीव हैं और भगवान् के परम आदेश से आकाश में आवश्यक अन्तरिक्ष है। यहाँ यह भी कहा गया है कि सम्पूर्ण विराट शरीर ( पिंड ) विस्तार कर रहा है। यह सात कोशों से आवृत है और जिस तरह इस ब्रह्माण्ड में पाँच तत्त्व हैं उसी तरह विराट काय ( पिंड ) को बाहर से आच्छादित करने वाले कोशों में सारे तत्त्व पाये जाते हैं। ब्रह्माण्ड का पहला स्तर ( कोश ) पृथ्वी है, जो ब्रह्माण्ड के भीतरी अवकाश से दस गुना अधिक है; दूसरा स्तर जल का है, जो पृथ्वी के स्तर से दस गुना अधिक है। तीसरा स्तर अग्नि का है, जो जल के कोश से दस गुना है। इस तरह प्रत्येक स्तर अपने पूर्ववर्ती स्तर से दस गुना बड़ा है।

गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात् ।

वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम् ॥ ४४ ॥

#### शब्दार्थ

गुण—प्रकृति के गुण; अभिमानिनः—के अधीन; देवाः—देवता; सर्ग-आदिषु—सृष्टि करने आदि में; अस्य—इस जगत का; यत्-भयात्—जिसके भय से; वर्तन्ते—कार्य करते हैं; अनुयुगम्—युगों के अनुसार; येषाम्—जिनके; वशे—अधीन; एतत्—यह; चर-अचरम्—सारे सजीव तथा निर्जीव।

भगवान् के भय से ही प्रकृति के गुणों के अधिष्ठाता देवता सृष्टि, पालन तथा संहार का कार्य करते हैं। इस भौतिक जगत की प्रत्येक निर्जीव तथा सजीव वस्तु उनके ही अधीन है।

तात्पर्य : प्रकृति के तीनों गुण—सतो, रजो तथा तमो गुण—तीन देवों के अधीन हैं। ये हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव। भगवान् विष्णु सतोगुण का, ब्रह्मा रजोगुण का तथा शिवजी तमोगुण का भार सँभालते हैं। इसी प्रकार से अन्य अनेक देवता हैं जिनके अधीन वायु विभाग, जल विभाग, बादल विभाग हैं। जिस प्रकार किसी सरकार में तमाम विभाग होते हैं उसी तरह इस संसार में भगवान् के राज्य (सरकार) में अनेक विभाग हैं और ये सारे विभाग भगवान् के भयवश ठीक से चलते हैं। निस्सन्देह देवता ही इस ब्रह्माण्ड के भीतर समस्त जड़ तथा जंगम पदार्थ का नियन्त्रण करते हैं, किन्तु इन सबके ऊपर का परम नियामक भगवान् है। अतः ब्रह्म-संहिता में कहा गया है कि ईश्वरः परमः कृष्णः। निस्सन्देह इस ब्रह्माण्ड में विभागीय प्रबन्ध के अनेक नियन्ता हैं, किन्तु परम नियामक तो कृष्ण ही हैं।

प्रलय भी दो प्रकार का होता है। एक प्रलय तो वह है जब ब्रह्मा रात्रि में सो जाते हैं और दूसरा वह जब ब्रह्मा का विनाश हो जाता है। जब तक ब्रह्मा मर नहीं जाते, तब तक सृष्टि, पालन तथा संहार का काम विभिन्न देवताओं द्वारा परमेश्वर की अध्यक्षता में चलता रहता है।

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।

जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥ ४५ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह; अनन्तः—अन्तहीन; अन्त-करः—विनाशकर्ता; कालः—समय; अनादिः—जिसका आदि न हो; आदि-कृत्—स्रष्टा; अव्ययः—जिसमें परिवर्तन न हो; जनम्—लोगों को; जनेन—लोगों द्वारा; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; मारयन्—विनष्ट करते हुए; मृत्युना—मृत्यु द्वारा; अन्तकम्—मृत्यु का स्वामी।

शाश्वत काल खण्ड का न आदि है और न अन्त। वह इस पातकी संसार के स्रष्टा भगवान् का प्रतिनिधि है। वह दृश्य जगत का अन्त कर देता है, एक को मार कर दूसरे

को जन्म देता है और इसका सृजन कार्य करता है। इसी तरह मृत्यु के स्वामी यम को भी नष्ट करके ब्रह्माण्ड का विलय कर देता है।

**तात्पर्य :** भगवान् के प्रतिनिधिस्वरूप काल के प्रभाव से ही पिता पुत्र को जन्म देता है और पिता क्रूर मृत्यु के प्रभाव से मर जाता है। किन्तु काल के प्रभाव से क्रूर मृत्यु का स्वामी भी मारा जाता है। दूसरे शब्दों में, इस संसार के सारे देवता हमारी ही तरह नाशवान हैं, हमारा जीवन अधिक-से-अधिक एक सौ वर्ष चलता है। इसी तरह यद्यपि देवताओं का जीवन लाखों वर्ष चलता है, किन्तु वे भी शाश्वत नहीं हैं। इस संसार में कोई भी अनन्तकाल तक जीवित नहीं रह सकता। यह दृश्य जगत भगवान् के इशारे से उत्पन्न होता है, पलता है और विनष्ट होता है। अतः भक्त इस संसार में कुछ भी नहीं करता। वह भगवान् की केवल सेवा करना चाहता है। यही दास्य भाव शाश्वत है और सेवा भी शाश्वत बनी रहती है।

*इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत “भगवान् कपिल द्वारा भक्ति की व्याख्या” नामक उन्तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*